आचार्य नागार्जुन तथा शङ्कराचार्य की दार्शनिक दृष्टियों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

सितम्बर- २००४

शोध निर्देशक-
डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ० प्र०

शोधार्थी-
उमाशंकर कौशिक

संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी)
(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री *उमाशंकर कौशिक* ने "आचार्य नागार्जुन तथा शङ्कराचार्य की दार्शनिक दृष्टियों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर यह शोध कार्य सम्पन्न किया है। इनका यह कार्य मौलिक एवं स्तरीय होने के साथ-साथ इनकी शोध दृष्टि को भी प्रमाणित करता है।

मैं इनके जीवन में सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

श्री गणेश जयंती

वि०सं० २०६१

डॉ. गदाधर त्रिपाठी
रीडर एवं अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग
श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झाँसी) उ० प्र०

समर्पण

परमश्रद्धेय प्रेरणास्पद

पिता स्व० श्री आर० बी० कौशिक जी
एवं वन्दनीया माता श्रीमती शान्तिदेवी जी
को सादर समर्पित

प्राक्कथन

सृष्टि का आदिस्वरूप कैसा था, यह निश्चयात्मक रूप से कह पाना आज भी सम्भव नहीं है। यह समग्र वस्तुजात नित्य है अथवा अनित्य, यह स्वयं स्नजित होता है अथवा इसका कोई स्नजन कर्ता और है, यह स्नजन कर्ता नित्य, समर्थ तथा द्वैत - अद्वैत आदि रूपों में किस प्रकार का है, यह भी निश्चयात्मक रूप से कह पाना सम्भव नहीं हो सका है।

हमारी पुरानी परम्परा और हमारे वाङ्मय का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन समय से ही इस देश के मनीषियों ने इस सृष्टि और इसमें व्याप्त उस अनन्त तत्त्व की विवेचना की है जो आज भी हमारी बुद्धि के प्रभाव से बड़ा है। इस विचार परम्परा में जो प्रतीत हुआ है और जिस प्रतीति को अत्यधिक मान्यता प्राप्त हुई है वह वेदान्त दर्शन और बौद्ध दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है। वेदान्त दर्शन में आचार्य शङ्कर और बौद्ध दर्शन में आचार्य नागार्जुन जैसे आचार्य हैं, जिनका शून्यवाद महत्त्व की विचार-परम्परा है और जिस पर पश्चात् कालिक दार्शनिकों ने इनसे प्रभावित होकर विचार किया है।

मैं अपने प्रारम्भिक समय से ही जाने–अनजाने दर्शन की ओर आकर्षित रहा हूँ, इस आकर्षण में मुझे आचार्य शङ्कर और आचार्य नागार्जुन अधिक पुष्ट दार्शनिक प्रतीत हुए और तब मैंने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से अपनी *एम.फिल.* की शोध उपाधि के बाद अपने निर्देशक डॉ० गदाधर त्रिपाठी जी से सम्पर्क किया और इस विषय पर अपना शोध कार्य करने की इच्छा व्यक्त की। इसी का यह परिणाम है कि डॉ. त्रिपाठी जी के आशीर्वाद से ही मैं इस शोधकार्य को पूर्ण कर अपना यह शोध ग्रन्थ प्रस्तुत कर पा रहा हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध की पूर्णता के लिए मैं सर्वप्रथम निर्देशक डॉ.गदाधर त्रिपाठी जी अध्यक्ष : संस्कृत–विभाग, श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झाँसी) के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए नतमस्तक हूँ, जिनकी अप्रतिम गवेषणात्मक दृष्टि की सहायता के बिना इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता सम्भव ही नहीं होती। यथार्थतः इस शोध प्रबन्ध में जो कुछ भी मैं समाहित कर पाया हूँ, वह सब देववाणी के अमर साधक डॉ त्रिपाठी जी की अविरल दार्शनिक विचारधारा और गहन चिन्तन एवं पूर्णतः सफल निर्देशन की परिणति है।

सरल एवं सहज व्यक्तित्व के धनी डॉ० राजाराम दीक्षित जी अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग, अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा (बाँदा) के प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद को मैं कभी विस्मृत नहीं कर सकता। इनका मैं हार्दिक आभार मानता हूँ।

डॉ० सुरेन्द्रमोहन मिश्र एवं डॉ० आर० पी० मिश्र प्राध्यापक, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा) का प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन सदैव मुझे मिला है, अतः मैं इन गुरुद्वय के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उनके प्रति भी नतमस्तक हूँ।

समाज सेवी एवम् प्रखर राष्ट्रवाद के शोधक डॉ० हिम्मतसिंह सिन्हा, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा) का संरक्षण और सम्बर्द्धन मुझे मिला है, मैं जीवनभर इनका आभारी रहूँगा।

दार्शनिक चिन्तन व योग साधना की साक्षात् प्रतिमूर्ति मेरे *पूज्य अग्रज* व पथ-प्रदर्शक **श्री सी. एस. कौशिक,** एस.डी.ओ., पी.टी.पी.एस. पानीपत (हरियाणा), के वात्सल्य की यह परिणति है कि मैं आज इस योग्य हो सका। मैं एतदर्थ उनके चरणों में विनत हूँ।

मेरे इस शोध चिन्तन की पृष्ठभूमि में वन्दनीया भाभी श्रीमती शशिप्रभा जी (शिक्षिका) का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनकी शोधार्थ शाश्वत् प्रेरणा व उत्साहवर्धन के प्रति मैं उनका सदैव हृदय से आभारी रहूँगा और इनका यह योगदान जीवन में चिर स्मरणीय रहेगा।

मेरे मामा श्री एच.एन. चतुर्वेदी जी पूर्व प्रधानाचार्य नेहरू इण्टर कालेज, पनवाड़ी (महोबा) भी मेरे जीवन में आदर्श और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। इनकी अनुकम्पा और आशीर्वाद के प्रति मैं हृदय से इनका आभार व्यक्त करता हूँ।

अपने पिता स्व० श्री आर० बी० कौशिक को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनकी अमोघ प्रेरणा, शाश्वत् प्रोत्साहन एवं स्नेहिल आशीर्वाद के प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयनकाल में मेरी माता जी का आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है, जिनकी कृपा से ही मैं आज यहाँ तक आ पाया हूँ। इनकी उदारता और सहृदयता के प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

इस शोधप्रबन्ध की पूर्णता में सहधर्मिणी श्रीमती कमलेश कौशिक के सहयोग एवं प्रोत्साहन को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता ।

यह शोध प्रबन्ध जिन लेखकों और विद्वानों के मार्ग दर्शन में परिपूर्ण हुआ एवं जिनकी कृतियों का आधार प्राप्त किया गया है, मैं उन सभी के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इसी के साथ इस शोध प्रबन्ध के टंकक श्री लक्ष्मीकान्त गुप्ता जी (जयभारत प्रेस), मऊरानीपुर (झाँसी) भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने निर्धारित समयावधि में इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग दिया।

श्रद्धावनत -

उमाशंकर कौशिक

(उमाशंकर कौशिक)

शोधार्थी

सुभाष नगर, पनवाड़ी

जनपद-महोबा(उ०प्र०)

श्रीगणेश जयंती

विक्रम संवत् २०६१

ग्रन्थ-संकेत-सूची

१.	अ० को०	अभिधर्मकोश (ओ.पी.प्रधान)
२.	अ० को०	अभिधर्मकोश (आचार्य वसुबन्धु)
३.	अ० को० भा०	अभिधर्मकोशभाष्यम्
४.	अ० घो०	अभिधर्मामृत घोषक
५.	अच्युत	अच्युत(ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य भूमिका)
६.	अ० वि०	अभिधर्मप्रदीप विभाषावृत्ति
७.	आ०वि०	आत्मानात्मा विवेक
८.	आ०श०द०सा०	आद्य शङ्कराचार्य दर्शन की सामाजिकता
९.	ई०द्वा०उ०	ईशादिद्वादशोपनिषद्
१०.	ई०द्वा०उ०(शां)	(संकलित) ईशादिद्वादशोपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित
११.	उ०त०ज्ञा०	उपनिषदों का तत्त्व ज्ञान
१२.	ऋक्(४)	ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड)
१३.	ऋ० प्र०	ऋजुप्रकाशिका
१४.	ऐ०उ०शां०	ऐतरेय उपनिषद् शाङ्करभाष्य
१५.	ऐ० भा०	ऐतरेयभाष्य,(संकलित) ईशादिद्वादशोपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित
१६.	क०प०	कल्पतरूपरिमल
१७.	क० शां०	कठोपनिषद् (शाङ्करभाष्य)

१८. का०पा०प०	काशी की पाण्डित्य परम्परा
१६. खु०नि०१(क)	खुदद्क निकाय भाग-१(कश्यप)
२०. च० वृ०	चन्द्रकीर्ति वृत्ति
२१. च० श०	चतुः शतक (चन्द्रकीर्ति वृत्ति सहित)
२२. छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्कर भाष्य)
२३. ज०मं०	जय मंगला
२४. त० प्र०	तत्त्व प्रदीपिका
२५. त० सं० पं०	तत्त्व संग्रह पंजिकोपेतः
२६. दी०नि०(क)	दीघनिकाय भाग-१ एवं २(कश्यप)
२७. द्वै०ता०अ०	द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन
२८. त्रिंशिका	त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिः
२६. त्रि०नि०	त्रिस्वभावानिर्देश
३०. नै०सि०	नैष्कर्मसिद्धिः
३१. पं०पा०	पंचपादिका
३२. प्र०उ०	प्रश्नोपनिषद् (शाङ्कर भाष्य सहित)
३३. प्र०प.	प्रसन्नपदा टीका
३४. ब्र०सू०शा०	ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य
३५. ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
३६. ब्र०सू०भा०	ब्रह्मसूत्र भाष्य
३७. बृह०उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
३८. बृ०भा०वा०	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक

३९. बु०इ०	बुद्धिस्ट इण्डिया
४०. बो० च०	बोधचर्यावतार (पंजिका सहितम्)
४१. बो० च० (शा०)	बोधचर्यावतार (शान्तिभिक्षु शास्त्री)
४२. बो०ध०द०	बौद्धधर्मदर्शन
४३. बौ०ध०इ०	बौद्धधर्म के विकास का इतिहास
४४. भा०	भामती : एक अध्ययन
४५. भाम०	भामती
४६. भा०द०(ब०)	भारतीय दर्शन(श्री बल्देव उपाध्याय)
४७. भा० द०	भारतीय दर्शन
४८. भा०द० (गै०)	भारतीय दर्शन(वाचस्पति गैरोला)
४९. म० प्र०	मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदा व्याख्या)
५०. भ०गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
५१. म०व०(क)	महावग्गपालि (कश्यप)
५२. म० शा०	मध्यमकशास्त्र
५३. म०नि०(रा)	मज्झिम निकाय (श्री राहुल सांकृत्यायन)
५४. म०अ०	मध्यमकावतार
५५. म०वि०शा०	मध्यान्त विभाग शास्त्र
५६. म०नि०(क)३	मज्झिम निकाय (कश्यप)
५७. मा०का०	माण्डूक्य कारिका
५८. मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
५९. मि० प्र०	मिलिन्द प्रश्न
६०. मि०प०	मिलिन्दपञ्हो

६१. मी०द०	मीमांसा दर्शन

६२. यजु०	यजुर्वेद

६३. र०	रत्नावली

६४. र०प्र०	रत्न प्रभा

६५. लंका	लंकावतार सूत्र

६६. ल०सू०	सद्धर्मलंकावतार सूत्र

६७. वार्तिक	वार्तिक

६८. वि० (क)	विभङ्गपालि (कश्यप)

६९. वि० मा० सि०	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (प्रकरणद्वयम्)

७०. वि०म०	विशुद्धिमग्गो (तृतीय भाग)

७१. वि०पु०	विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड)

७२. वि०व्या०	विग्रह व्यावर्त्तनी

७३. वि०म०	विशुद्धिमग्ग आफ बुद्धघोष

७४. वे०प०	वेदान्त परिभाषा

७५. वे० सा०	वेदान्तसार

७६. वे०द०	वेदान्तदर्शन(पालडायसन)

७७. वे०द०	वेदान्त दर्शन(श्री हरिदास गोयनका)

७८. वे०क०	वेदान्तकल्पतरू

७९. वे०प०	वेदान्त परिभाषा

८०. वे०सि०मं०	वेदान्त सिद्धान्त सूक्त मंजरी

८१. शं०थ्यो०ना०	एन इन्ट्रोडक्शन टू शङ्कर थ्योरी आफ नॉलिज
८२. शां०भा०	शाङ्करभाष्य (आचार्य शङ्कर कृत)
८३. सं०नि० (२)	संयुक्त निकाय भाग-२
८४. स०पु०(दास)	सद्धर्मपुण्डरीक
८५. श्वे०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
८६. श्रीभाष्य	श्रीभाष्य
८७. स्थि०भा०	स्थिरमतिभाष्य(विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि)
८८. स्फु०	स्फुटार्था अभिधर्मकोश व्याख्या
८९. साम०	सामवेद
९०. सु०वि०(२)	सुमंगलविलासनी भाग-२
९१. हि० बु०	हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म भाग-२
९२. हि०इ०फि०	हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-२
९३. हि०इ०फि०	ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-३
९४. हि०इ०ला०	हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक
९५. ज्ञा०प्र०(१)	ज्ञान प्रस्थान भाग-१

अनुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय-

(आचार्य शङ्कर तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि)

पंचम अध्याय-

(आचार्य नागार्जुन एवं शङ्कराचार्य की दर्शन दृष्टि का साम्य-वैषम्य)

प्रथम अध्याय

आचार्य नागार्जुन
और
उनकी परम्परा

प्रथम अध्याय

(आचार्य नागार्जुन और उनकी परम्परा)

आचार्य नागार्जुन और उनकी परम्परा
आचार्य नागार्जुन, रचनाएं, शून्य दृष्टि
मध्यमकशास्त्र, आर्यदेव, रचनाएं
आचार्य भावविवेक, आचार्य चन्द्रकीर्ति
शान्तिदेव, माध्यमिक दृष्टि का
समीक्षात्मक स्वरूप।

प्रथम अध्याय

आचार्य नागार्जुन और उनकी परम्परा

माध्यमिक दृष्टि, शून्यता अथवा नैरात्म्य की धारणा प्राचीन समय से ही बौद्ध धर्म में उपलब्ध है। भगवान् बुद्ध की जो मूल देशना है उससे सत् और असत् दोनों का ही निराकरण किया गया है। सत् और असत् से परे अनिर्वचनीय माध्यमिक दृष्टि की विशेषता है। मनुष्य की तर्क बुद्धि सत्य के सम्यक् बोध में अक्षम है क्यों कि वह सदैव अन्तग्राहिणी है। वह इस प्रकार के सत्य को ग्रहण नहीं कर पाती जो अपरिच्छिन्न है, अनन्त है और सत्य है। सत्य-असत्य के इस उभयविध प्रपंचात्मक जगत् में क्या सत्य है और उसका स्वरूप क्या है, इस पर भी उपनिषदों में विचार किया गया है। इसी विचार परम्परा को बौद्ध दर्शन में असत् और अनात्म के स्वरूप में विकसित किया गया है और इसे एक वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की गई।

कहा जाता है कि बुद्ध के मूल उपदेशों में द्वैतमय जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं था इसलिए प्रायः हीनयानी सम्प्रदायों में शून्यता तथा नैरात्म्य को एक सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया। वहाँ यह कहा गया कि मनुष्य एक प्रकार का "संघात" एवं सन्तान है, एक प्रवाहगत समूह है। इसके विविध स्कन्धों में किसी स्थिर आत्मा अथवा जीव की कल्पना नहीं करनी चाहिए। देह, इन्द्रियाँ अथवा मन पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं जिनकी समष्टि लोक प्रचलित आत्मा अथवा अहं की प्रतीति का आधार है। यही पुद्गल में नैरात्म्य का स्वरूप है। स्कन्ध, धातु, आयतन आादि में किसी जीव अथवा पुद्गल का अभाव तद्गत शून्यता है।

आचार्य नागार्जुन :-

आचार्य नागार्जुन के सम्बन्ध में एक भविष्यवाणी की गई थी कि आगे आने वाले समय में नाग नाम का एक भिक्षु जन्म लेगा और भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् दक्षिणापथ में सत् और असत् का प्रतिषेध करते हुये प्रचार करेगा। इसी प्रकार एक अन्य स्थान में यह विवेचन है कि यह समय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर का ४०० वर्ष का होगा और तभी लिच्छवि नाग नाम का भिक्षु धर्म प्रचार के लिये अवतरित होगा।[१]

एक अन्य स्थान पर यह लिखा है कि आचार्य नागार्जुन की चीनी जीवनी ४०५ ईसवीय में अनूदित हुई थी। इसके अनुसार नागार्जुन दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । इन्होंने केवल वेदों और वेद विधाओं का ही अध्ययन नहीं किया था अपितु अन्य अनेक विधाओं में भी इनकी अपूर्व गति थी। उनकी शक्तियों के विषय में कहा गया है कि वे अपनी शक्ति से जब चाहते थे, अदृश्य हो सकते थे और जब चाहते थे, तब प्रकट हो सकते थे। भिक्षु का जीवन स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने तीन सौ वर्षों तक समाज में रहकर सद्धर्म का प्रचार-प्रसार किया था। बौद्ध दर्शन की विशिष्ट रचनाओं के साथ-साथ इन आचार्यों के विषय में यह कहा जाता है कि इन्होंने तन्त्र और चिकित्सा की रचनाएँ की थी।[२]

---

१. लङ्का, पृ० २८६
२. बौ० वि० इ०, पृ० ३६९

श्वांगच्वांग के वृतान्त के अनुसार दक्षिण कोसल की राजधानी के पास अशोक द्वारा बनवाया गया एक प्राचीन स्तूप था। इस स्तूप से सम्बद्ध संघाराम में नागार्जुन बोधिसत्व निवास करते थे। उसी समय राजा सातवाहन का राज्य था और इस राजा की अटूट श्रद्धा नागार्जुन के प्रति थी[१]। आचार्य नागार्जुन के विषय में यह भी कहा गया है कि ये रसायन शास्त्र में विज्ञ थे और इन्होंने सातवाहन को ऐसी वटी दी थी जिससे उसे दीर्घ जीवन प्राप्त हुआ था। राजा सातवाहन ने आचार्य नागार्जुन के लिए भ्रमरगिरि नामक स्थान पर ही एक संघाराम का निर्माण कराया था। आचार्य नागार्जुन का जीवन वृत्त निरूपित करने वाले सभी विद्वान राजतरंगिणी का संदर्भ देते हैं और यह कहते हैं कि बोधिसत्व नागार्जुन हुष्क, जुष्क और कनिष्क के समय कश्मीर में अत्यधिक प्रभावी थे[२]।

एक कथा इस प्रकार की प्रचलित है जिसमें कहा गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् विदर्भ जनपद में एक समृद्ध और सन्तानहीन ब्राह्मण निवास करता था। उसे स्वप्न में यह आभास हुआ कि यदि वह एक सौ ब्राह्मणों का निमंत्रण कराकर उन्हें भोजन के लिए प्रार्थित करे तो उसके सन्तान हो सकती है। उसने ऐसा ही किया और उसे पुत्र लाभ हुआ। बाद में यह बताया गया कि यह बालक अल्पायु है जिससे उसने उस बालक को परिभ्रमण के लिये बाहर भेज दिया। भ्रमण करता हुआ वह नालन्दा पहुँचा और उसे वहाँ पर नालन्दा के विहार स्वामी राहुलभद्र के अनुग्रह से उपसम्पदा प्राप्त हुई तथा भिक्षु के रूप में उसका नाम श्रीमान् हुआ।

---

१. यु० द०, (२), पृ० २००-६

२. बौ० ध० द०, पृ० १६७

एक बार जब नालंदा में दुर्भिक्ष पड़ा तो श्रीमान् ने रसायन की सहायता से स्वर्ण प्राप्त किया और उससे संघ का कार्य यथावत रीति से चला। बाद में भिक्षु संघ ने यह आज्ञा प्रदान की कि श्रीमान् एक करोड़ विहारों का निर्माण करावें। उसी समय शङ्कर नाम के एक भिक्षु ने न्यायालंकार नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिससे सभी उसके तर्क से पराजित हो गये थे। उस भिक्षु को परास्त करने के लिय श्रीमान् ने धर्म की व्याख्या की तथा उसको सुनने के पश्चात् श्रोताओं में से दो बालक पृथ्वी के नीचे सहसा अन्तर्हित हो गये। बाद में पता चला कि वे दोनों नाग थे। तब श्रीमान् ने नागलोक में अवतरण किया और वहीं धर्म का उपदेश दिया। नागलोक से ही वे शतसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता तथा स्वल्पक्षरा प्रज्ञापारमिता साथ लाये। इसी से नाग लोक में अवतरण करने के कारण वे नागार्जुन कहलाये। आचार्य नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन के प्रसार के लिए माध्यमिक शास्त्र का प्रणयन किया तथा अनेक माध्यमिक स्तवन लिखे। व्यवहारिक पक्ष में उन्होंने सूत्र समुच्चय में आगमों के अनुकूल उपदेश किया एवं दर्शन के अतिरिक्त उन्होंने चिकित्सा से सम्बन्धित और रसायनशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ भी लिखे।[1]

---

१. हि० बु०, पृ० १२०-३०

इन सभी परम्पराओं से यह ज्ञात होता है कि आचार्य नागार्जुन सम्भवतः द्वितीय शताब्दी में उत्पन्न हुए थे और वे कनिष्क तथा शातवाहन के समकालीन थे। इसी प्रकार से वे आन्ध्रपक्ष में सम्भवतः धान्यकटक के समीप श्रीपर्वत पर उत्पन्न हुए थे। यह भी सम्भव है कि माध्यमिक दर्शन के प्रचारक आचार्य नागार्जुन के अतिरिक्त अन्य कोई नागार्जुन रहे हों किन्तु कालान्तर में उन्हें स्मरण रख पाना सम्भव नहीं हुआ[१]।

रचनाएँ:-

आचार्य नागार्जुन की रचनाओं में महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, मध्यमककारिका तथा विग्रहव्यावर्त्तनी का विशेष महत्त्व है। महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र में एक प्रकार से महायान अभिधर्म की भूमिका है। आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमिता सूत्रों को उसी प्रकार से क्रमबद्ध करने का प्रयास किया, जिस प्रकार मैत्रेयनाथ ने पारमिता सूत्रों को क्रमबद्ध स्वरूप प्रदान किया था। किन्तु समीक्षक यह कहते हैं कि आचार्य नागार्जुन ने शून्यवाद की जो व्याख्या और व्यवस्था दी है तदनुरूप उनका तादात्म्य प्रज्ञापारमिता सूत्रों के साथ नहीं बैठ रहा है। यही कारण है कि माध्यमिक दर्शन–परम्परा में प्रज्ञापारमिताओं का अधिक महत्त्व नहीं है।

---

१. बौ० वि० इ०, पृ० ३७२

शून्य दृष्टिः-

आचार्य नागार्जुन ने बौद्ध परम्परा में शून्यता का प्रतिपादन सर्वप्रथम किया। इस प्रतिपादन को ही इन्होंने सर्वप्रथम दार्शनिक दृष्टि का स्वरूप दिया। उन्होंने जो प्रज्ञापारमिताओं में कहा गया था, उसका सारतत्त्व लेकर उसे एक विचार भूमि में प्रतिष्ठित किया और इसी से एक ऐसी दृष्टि विकसित हुई जिसे शून्यवाद का नाम दिया गया। उन्होंने ऐसे तर्क का सृजन किया जिससे किसी भी अन्य तर्क का खण्डन हो सका और इस तरह से तर्क से तर्क का खण्डन करने का सिद्धान्त ही विकसित हो सका। आचार्य ने जो कहा उससे यह प्रतिपादित हुआ कि शून्यता प्रतीत्य समुत्पाद से अभिन्न है। अर्थात् जो प्रतीत्य समुत्पाद है वही शून्यता है[1]।

वे यह अनुभव करते थे कि शून्यता का प्रतिपादन करने पर किसी प्रकार से तर्क नहीं किया जा सकता । जो शून्य है, वह अतर्क्य है ओर जो अतर्क्य है, वही शून्य है। जब "सर्व शून्यम्" स्वीकार कर लिया गया तो उसमें किसी प्रकार का तर्क करना संभव नहीं है। शून्यवादी यदि शून्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करने के बाद किसी प्रकार का तर्क करता है तो फिर शून्यता की ही हानि होगी। क्योंकि शून्यता स्वीकार करने से किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं हो सकती और तब फिर युक्ति द्वारा उसके साधन की बात भी नहीं की जा सकती।

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।। म० शा०, पृ० २६

आचार्य नागार्जुन ने शून्यता के प्रतिपादन में कहा कि यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो तुम्हारे शब्द भी स्वभावहीन होने के कारण स्वभाव के खण्डन में असमर्थ हैं। दूसरी ओर यदि तुम्हारी बात स्वभाव युक्त है तो तुम्हारी प्रतिज्ञा ही खण्डित हो जाती है। शून्यवाद के सम्बन्ध में जब आचार्य यह तर्क देते हैं कि जैसे कोई कहे कि शब्द मत करो और ऐसा कहने पर वह अनिवार्यता शब्द करे। इस स्थिति में शब्द के द्वारा शब्द का निवारण करे। इस तर्क के विरोध में प्रतिपक्षी यह कहता है कि यहाँ पर यह उचित उक्ति इसलिए लागू नहीं होती है क्योंकि वर्तमान शब्द से अनागत शब्द का प्रतिषेध किया जाता है। इसी प्रकार से यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि यदि सभी पदार्थों के स्वरूप निःस्वभावी हैं तो उनके नाम पृथक्-पृथक् नहीं होने चाहिए। क्योंकि पृथक्-पृथक् नाम वाली वस्तु का कोई न कोई आधार अवश्य होता है। निर्वस्तुक नाम किसी का निर्धारित नहीं होता और न ही वस्तु रहित कोई नाम किया जा सकता है। अब इस स्थिति में स्वभाव की स्थिति का विश्लेषण कैसे किया जा सकता है क्योंकि जब यह कहा जाएगा कि स्वभाव पदार्थों का नहीं है और सभी पदार्थ निःस्वभावी होते हैं तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि फिर विलक्षण स्वभाव किसका है। क्योंकि वस्तु प्रतीति है और उसका कोई न कोई स्वभाव भी है।

प्रज्ञापारमितासूत्र में यह विवेचन है कि वस्तुतः बोधिचित्त ही अचित्त हैं। इस अचित्त चित्त में अस्ति तथा नास्ति की उपलब्धि नहीं होती। यह अचित्तता निर्विकार तथा निर्विकल्प है। इसी को यथार्थ में प्रज्ञापारमिता का नाम दिया गया है। इस प्रज्ञापारमिता के विपरीत अविद्या है जिसके द्वारा अविद्यमान धर्मों की सत्त्व कल्पना होती है। साधारण लोग इसी अविद्या के घेरे में है तथा इसी के माध्यम से सत्त्व कल्पना में निमग्न हैं। साधारण लोक अविद्यमान धर्मों में अस्ति और नास्ति की कल्पना कर उसी के बीच में दोलायमान होता रहता है। उनका यही अभिनिवेश उन्हें संसारी बनाता है और ऐसे संसारी ही अविद्या से ग्रसित कहे जाते हैं। यथार्थ में तो सभी धर्म मायोपहत हैं और वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है। शून्यता ही यथार्थ है क्योंकि इसके अतिरिक्त यर्थाथरूप में न कुछ उपलब्ध होता है और न उत्पन्न हुआ प्राप्त है। केवल अज्ञान युक्त चित्त में ही नाना विधि वस्तु का प्रकल्प दिखाई देता है।

माध्यमिक इसी शून्यता को आधार मानकर न भाव स्वीकार करते हैं और न अभाव स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से माध्यमिक विभिन्न पदार्थों के अभाव को शून्यता कहते हैं। इसी के साथ-साथ अभाव तथा शून्यता का प्रतिपादन करते हैं। इसे इस रूप में भी कहते हैं कि जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ व्यवस्थापित तत्त्व अपारमार्थिक हैं। इनमें कोई स्थिर, पृथक् स्वभाव नहीं है। यह विशुद्ध धर्म नैरात्म्य है और इसी को धर्म-शून्यता कहते हैं। इसी प्रारम्भिक उद्भावना को आचार्य नागार्जुन तथा अन्य आचार्यों ने प्रतिपादित किया है और तर्क दृष्टि से प्रतिष्ठापित किया है।

मध्यमक शास्त्र:-

आचार्य नागार्जुन द्वारा विरचित मध्यमक कारिकाएँ न केवल एक ग्रन्थ के रूप में महनीय हैं अपितु इन कारिकाओं से ही मध्यमक नय प्रतिष्ठित हुआ है। इस ग्रन्थ को मध्यमक शास्त्र के रूप में कहा जाता है और आचार्य इसके प्रारम्भ में ही मध्यमक दर्शन की मूल धारणा को स्वर देते हैं और तब इस दर्शन के आदि देवता बुद्ध वन्दना करते हैं। वे प्रथम कारिका और द्वितीय कारिका में इसकी भूमिका देते हुए लिखते हैं कि जो अनिरोध है, अनुत्पाद है, अनुच्छेद है, अशाश्वत है, अनेकार्थ है, अनानार्थ है, अनागम है, अर्निगम है। जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद की संज्ञा से कहा जाता है और जो सभी प्रपन्चों को उपशमित करने वाला है। ऐसे जिस तत्त्व का उपदेश भगवान् बुद्ध ने किया है, हम ऐसे उस श्रेष्ठ पुरुष की वन्दना करते हैं।[१]

अपने इस प्रारम्भिक अवतरण के साथ ही आचार्य क्रम से अपने अभिमत को शब्द देते हैं और प्रत्यय परीक्षा, गतागत परीक्षा, चक्षुरादीन्द्रियपरीक्षा आदि के क्रम से सत्ताईस शीर्षकों का विभाजन करके अपना अभिमत व्यक्त करते हैं। आचार्य अपने इस ग्रन्थ में कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विस्तार से विचार करते हैं और स्कन्ध परीक्षा, दुःख परीक्षा, स्वभाव परीक्षा, आत्म परीक्षा, काल परीक्षा, तथागत परीक्षा एवं निर्वाण परीक्षा जैसे विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार देते हैं।

---

१. अनिरोधमनुत्पादम् अनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थम् अनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशिवं शमम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतांवरम्।। म० शा०, पृ०।

स्कन्ध परीक्षा में यह कहा जाता है कि रूप भौतिक होता है चार महाभूत उनके कारण होते हैं। जैसे घट से पट भिन्न है वैसे भूतों से पृथक् भौतिक रूप नहीं है। इसी प्रकार भूत भौतिकों से पृथक् नहीं है। रूप स्कन्ध के ही समान वेदना, चित्त, संज्ञा, संस्कारों का भी अभाव है। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि माध्यमिक जिस प्रणाली से एक धर्म की शून्यता का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार से सभी धर्मों की शून्यता प्रतिपादित करते हैं।[१]

आचार्य नागार्जुन दुःख की परीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि यह कहा जाए कि पंच उपादान स्कन्ध दुःख हैं और इस दुःख का आश्रय आत्मा है तो यह कहना इसलिए संगत नहीं होगा क्योंकि दुःख की आत्मा आश्रय तब होती जब यथार्थतः दुःख होता। किन्तु दुःख की सत्ता के लिए उसका स्वयं कृतत्व अथवा अहेतुकत्व बताना होगा। इन दोनों बातों में से किसी के भी स्वीकार से दुःख की सिद्धि नहीं होती।

हेतु प्रत्ययों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यदि संस्कार और अकुंरादि सस्वभाव हैं और वर्तमान हैं तो इनके लिए हेतु प्रत्यय व्यर्थ हैं। जिस प्रकार वर्तमान संस्कारादि की भूयो निष्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादान व्यर्थ है उसी प्रकार समस्त भावों की विद्यमानता हेतु प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ करती है।[२]

---

१. रूपकारणनिर्मुक्तं न रूपमुपलभ्यते।
रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम्।।
रूपकारणनिर्मुक्ते रूपे रूपं प्रसज्यते।
आहेतुकं न चास्त्यर्थः कश्चिदाहेतुकः क्वचित्।। म० शा०, पृ० ४

२. म० शा०, पृ० १३

आर्यदेवः-

आर्यदेव के विषय में कहा जाता है कि ये आचार्य नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। उन्हें काणदेव अथवा नीलू नेत्र के नाम से जाना जाता है। इनके विषय में एक किंवदन्ती यह है कि उनके समय में महेश्वर की एक बहुत बड़ी और प्रतिष्ठित स्वर्णमयी प्रतिमा थी। उस प्रतिमा के विषय में यह प्रसिद्ध था कि इसके सामने की गई प्रार्थना अवश्य पूरी होती है। इस मूर्ति के इस बिम्ब को खण्डित करने की दृष्टि से आर्यदेव ने उसकी एक आँख निकाल ली थी। बाद में अपनी निरहंकारिता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपनी भी एक आंख निकाल दी थी। सम्भव है "काण देव" इनका नाम इसी कारण से प्रचिलित हुआ हो। आर्यदेव बोधिसत्व सिंहत्व से नागार्जुन के दर्शन के लिए आये थे। इन दोनों आचार्यों का परस्पर वाद-संवाद हुआ और बाद में नागार्जुन ने आर्यदेव को अपना उत्तराधिकारी कर दिया। ये दक्षिणापथ के ब्राह्मणवंशीय माने जाते हैं[१]। एक अन्य परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है कि आर्यदेव का सिंहल में आविर्भाव हुआ था। वहाँ के राजा ने इनका पालन पोषण किया था। बाद में ये आचार्य नागार्जुन के शिष्य और धर्मादाय बन गये। इनका आविर्भाव २००-२२४ ईसवीय के आस पास का माना जाता है[२]।

रचनाएँ :-

आचार्य आर्यदेव की रचनाओं में मुख्य रूप से चतुःशतक का नाम लिया जाता है किन्तु इनके नाम से जो अन्य रचनाऐं जानी जाती हैं वे- शतशास्त्रवैपुल्य, धर्मशासन, शतक विग्रह, शतक तन्त्र पर लिखे चतुपीठतन्त्र-राजमण्डल, विधिसार समुच्चय तथा एक द्रुम पंजिका हैं।

---

१. बु० इ०, पृ० ८३८६

२. भा० द० , (ब०), पृ० १५४

चतुःशतक आचार्य आर्यदेव की प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठापित करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है। यह अपने नाम के अनुरूप चार सौ कारिकाओं वाला ग्रन्थ है। इसमें सोलह अध्याय और प्रत्येक अध्याय में पच्चीस कारिकाएँ हैं। चतुःशतक के पहले प्रकरण में आचार्य ने रूप आदि स्कन्धों को हेतु-प्रत्ययजन्य मानकर उनकी अनित्यता सिद्ध की है। वे यह कहते हैं कि रूपादि पन्च स्कन्ध अपनी उत्पत्ति के लिए अपने से पूर्व-पूर्व हेतुओं पर आधारित हैं, इसलिए इनकी अनित्यता स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार से जब वे वस्तु की अनित्यता सिद्ध कर देते हैं तो फिर अपने द्वितीय अध्याय में वे यह प्रतिपादित करते हैं कि जो अनित्य है, वह दुःख है क्योंकि पंच स्कन्ध अनित्यात्मक हैं, इसलिए दुःखात्मक भी हैं। इसी क्रम से आचार्य ने अपनी इस कृति में वे सभी बिन्दु उठाए हैं और उनका सतर्क बुद्धि से प्रतिपादन किया है, जो बौद्ध दर्शन के महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं तथा जिनके आधार पर बौद्ध दर्शन खड़ा है।

आचार्य आर्यदेव ने यह कहा है कि बौद्ध दर्शन अति उत्कृष्ट दर्शन है किन्तु इसकी विचार-परम्परा इतनी सूक्ष्म है कि यह सामान्य बुद्धि के लोगों के लिए अगम्य हो जाता है। इसके विपरीत जो परम्परा ब्राह्मण धर्म में अपनाई गई है उसमें उपासना का क्रम है और स्थूल देवताओं की पूजा-अर्चना स्वीकृत है इसलिए जो स्थूल बुद्धि के लोग हैं, उन्हें वह परम्परा इसलिये आकर्षित कर लेती है क्योंकि वहाँ उन्हें बहुत अधिक सूक्ष्म चिन्तन नहीं करना पड़ता और उपासना की स्थूल विधियों में रस भी आता है।

किन्तु वे जोर देकर कहते हैं कि यथार्थ धर्म और दर्शन बौद्ध दर्शन ही है क्योंकि इसमें अहिंसा और शून्यता को स्वीकार किया गया है। वे इस दर्शन में अवबोध पाने वालों की तीन श्रेणियाँ कहते हैं। पहली श्रेणी वह है जिसमें उपासक को दान का उपदेश होना चाहिये। दूसरी श्रेणी के अधिकारी के लिये यह आवश्यक है कि उसे शील का उपदेश होवे। उत्तम अधिकारियों के लिये यह आवश्यक है कि वे शान्ति का उपदेश प्राप्त करें। शान्ति की प्राप्ति स्वभाव-शून्यता के द्वारा ही सम्भव है, इसलिये यह क्रम लम्बा होता हुआ भी सभी के लिए सरल और बोधगम्य है। इसमें बहुत अधिक कठिनाई नहीं है और सामान्य व्यक्ति भी इस मार्ग के माध्यम से स्वभाव शून्यता रूप निर्वाण का अधिकारी हो सकता है[१]।

आचार्य आर्यदेव ने भी माध्यमिकाचार्य नागार्जुन की ही भाँति रूपादि स्कन्धों काल, परमाणु और नित्यतादि का खण्डन किया है और कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे आचार्य नागार्जुन के भावों का अनुवाद मात्र कर रहे हैं। किन्तु मूल शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी उन्होंने ऐसी शैली को प्रस्तुत किया है जो नवीन और आकर्षक है। आचार्य नागार्जुन की ही भाँति आर्यदेव की तर्क प्रणाली प्रसंगानुमान पर आश्रित है। वे स्वयं किसी प्रकार का अभ्युपगम नहीं करते अपितु अशेष अभ्युपगमों में विरोध की प्रसक्ति प्रदर्शित करते हैं। विरोध के अन्तर्गत होने के कारण अस्तित्व-नास्तित्व, कार्य-कारण आदि सभी पक्ष निराकृत हो जाते हैं[२]।

---

१. बौ० ध० वि० इ० , पृ० ३९४

२. वही, पृ० ३९५

आचार्य भावविवेक :-

आचार्य भावविवेक अथवा भव्य ने माध्यमिकों की स्वातान्त्रिक शाखा की प्रतिष्ठापना की है। इन्होंने माध्यमिक कारिकाओं पर प्रज्ञाप्रदीप नामक व्याख्या लिखी जो तिब्बत की परम्परा में तो प्राप्त है किन्तु अन्य परम्परामें प्राप्त नहीं है। इनका रचा हुआ एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उल्लिखित किया जाता है जो माध्यमिक हृदय कारिका के नाम से ख्यात है और जिस पर आचार्य ने स्वयम् ही तर्क ज्वाला नामक व्याख्या लिखी ।

आचार्य भव्य ने शून्यवाद के समर्थन में स्वतन्त्र अनुमान की प्रतिष्ठा की है। वे इसकी सिद्धि के लिये इस प्रकार का तर्क देते हैं कि परमार्थतः आध्यात्मिक आयतन स्वतः उत्पन्न नहीं हैं क्योंकि वे विद्यमान हैं तथा चैतन्य हैं। यहाँ पर "परमार्थतः" शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि चक्षु आदि आयतनों का सांवृत उत्पाद प्रतिषेध नहीं है। स्वतः उत्पाद के निषेध में परतः उत्पाद अभीप्सित न होने के कारण यहाँ पर प्रसज्य प्रतिषेध अंगीकार्य है न कि पर्युदास प्रतिषेध[१]।

आचार्य भावविवेक स्वसंवेदन का निरूपण भी बड़े तर्क पूर्ण ढ़ंग से करते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार तीक्ष्ण तलवार की धार स्वयं को नहीं काट सकती और जिस तरह अपने कार्य में पूर्ण दक्ष नट भी अपने ही स्कन्ध में नहीं बैठ सकता, उसी प्रकार से चित्त-चैतसिक भी अपने आपको नहीं जान सकते। यदि कोई वाह्य आलम्बक ज्ञान से भिन्न स्वसंवेदक है तो वह पर संवेदक ही होगा। इस रूप में स्व संवेदन का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता और वह कल्पना मात्र ही होगा[२]।

---

१. बौ० ध० वि० इ० , पृ० ३९६

२. वि० मा० सि० , भूमिका, पृ० ५३

आचार्य भव्य के अनुसार परमार्थ भी द्विविध है, संवृत्ति भी एक ओर अपर्याय परमार्थ है। अपर्याय परमार्थ अनभिसंस्कार, लोकोत्तर, अनास्त्रव एवं अप्रपंच है। पर्यायपरमार्थ साभिसंस्कार तथा प्रपंचानुगत है यही कल्पानुलोमिक परमार्थज्ञान है। संवृत्ति में भी तथ्य संवृत्ति तथा मिथ्या संवृत्ति दो भेद हैं। परमार्थ देशना तथ्य संवृत्ति है। तथ्य संवृत्ति परमार्थ की शब्द और तर्क के स्तर पर अभिव्यक्ति है[१]।

आचार्य भावविवेक वाह्यार्थ मानकर आलय विज्ञान और क्लिष्ट विज्ञान मानने से विरत हैं। वे कहते हैं कि जो मत विज्ञान की स्थापना करते हैं वे एक प्रकार से आत्मा को ही स्वीकार करते हैं। ऐसे मतावलम्बियों का सिद्धान्त आत्मवादियों के सिद्धान्त से वस्तुतः बहुत अधिक भिन्न नहीं दिखाई देता। इस प्रकार से आचार्य आलय विज्ञान का खण्डन करते हैं।

यह मत भिन्नता गोत्र के सम्बन्ध में भी दिखाई देती है। स्वातन्त्रिक माध्यमिक प्रकृतिस्थगोत्र को असंस्कृत धर्म मानते हैं। और उसे ही तथागत गर्भ भी स्वीकार करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि स्वसंवेदन के लिए अग्नि का दृष्टान्त बताना ठीक नहीं है। यदि यह दृष्टान्त दिया जाएगा तो यह कहना ठीक नहीं होगा कि दीपक के जलने और प्रकाशित होने के पूर्व घर पर पहले से विद्यमान नहीं थे। यथार्थ में तो यही कहना पड़ेगा कि दीपक के प्रकाश के पूर्व भी वे घर पर थे किन्तु अग्नि या दीपक ने अपने प्रकाश से उनका प्रकाशन किया है। यदि वे पूर्व से विद्यमान नहीं होते तो दीपक के प्रकाश से उनका प्रकाशन नहीं हो सकता था[२]।

---

१. बौ० ध० वि० इ० , पृ० ३९६

२. वि० मा० सि०, पृ० ६३

आचार्य चन्द्रकीर्ति :-

चन्द्रकीर्ति आचार्य धर्मपाल के शिष्य कहे गये हैं। इन्होंने स्वातांत्रिक मत का खण्डन किया है और प्रासंगिक मत की स्थापना की है। इनका अविर्भाव समय छठवीं शताब्दी माना जाता है। आचार्य कहते हैं कि ये दक्षिणापथ में समन्त नाम के एक स्थान में उत्पन्न हुए थे। बाल्यकाल में ही इन्होंने अलौकिक प्रतिभा पा ली थी। इन्होंने आचार्य नागार्जुन की विचार शैली से प्रभावित होकर उन्हीं के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। ये ग्रन्थ इन्होंने आचार्य कमल शील के निर्देशन में पढ़े थे। कमलशील आचार्य बुद्ध पालित तथा भव्य के शिष्य थे। उन्होंने बहुत समय तक नालन्दा में निवास किया और वहीं पर रहकर बौद्ध दर्शन में विशिष्टता प्राप्त की। उनके संदर्भ में यह भी कहा जाता है कि इनको अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। जिनके द्वारा वे चित्र लिखित गाय से दूध का दोहन कर सकते थे और बिना स्पर्श किये पत्थर का निक्षेप कर सकते थे। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने जिन ग्रन्थों की रचना की, उनमें मध्यमकावतार, माध्यमिक कारिकाओं पर प्रसन्नपदा आदि हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपना मत स्पष्ट करते हुये यह प्रतिपादन किया है कि माध्यमिकों का कोई भी स्वपक्ष नहीं है। उनके लिए सभी पदार्थ स्वभाव शून्य हैं। इसलिये यह स्थिति होने पर माध्यमिक हेतुवाद अथवा कारणवाद का अभिदान नहीं कर सकता है। माध्यमिक स्वपक्ष को स्वीकार न करने के कारण परपक्ष भी नहीं कह सकता इसलिए उनके मत से दृष्टान्त का अभिधान कर पाना भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार से अपना मत प्रतिपादित करने पर ही माध्यमिक शून्यवाद का प्रतिष्ठापन कर सकते हैं। शून्यवाद में किसी प्रकार का हेतुवाद अथवा कारणवाद का स्थापन नहीं हो सकता ।

आचार्य नागार्जुन ने निःस्वभावता की स्थापना की है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इस मूल अवधारणा को अपनी व्याख्या में स्थापित किया है। जब प्रतिपक्षी यह कहता है कि भावों का स्वभाव है क्योंकि उसकी निष्पत्ति के लिए हेतु-प्रत्ययों का उपादान होता है। उपादान आकाश पुष्प के लिए नहीं होता। अंकुर की निष्पत्ति के लिए, बीज के संस्कार के लिए अविद्या का उपादान होता है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि अंकुरादि स्वभाव सस्वभावी हैं और वर्तमान हैं तो इनके लिए हेतु -प्रत्यय व्यर्थ हैं। जिस तरह वर्तमान संस्कारादि के लिए और उनकी पुनः उत्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादान व्यर्थ है, उसी तरह से सभी भावों की विद्यमानता हेतु-प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ ही सिद्ध करती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हेतु-प्रत्ययों के द्वारा भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता[१]।

यही कारण है कि आचार्य जब स्वभाव का अपना लक्षण निरूपित करते हैं तो लिखते हैं कि स्वभाव परनिरपेक्ष तथा अकृत्रिम होता है। चन्द्रकीर्ति "स्वो भावः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहते हैं कि पदार्थ का आत्मीय रूप स्वभाव है। आत्मीय रूप वही होगा जो अकृत्रिम होगा। जो जिसका आयत्त है, वही उसका आत्मीय है जैसे स्वभृत्य, स्वजन आदि। अग्नि आदि की उष्णता कृतक इसलिए अग्नि का स्वभाव नहीं है [२]।

---

१. यदि भावानां संस्कारादीनां स्वभावोऽस्ति, किमिदानीं विद्यमानानां हेतुप्रत्ययैः प्रयोजनम्। यथा वर्तमान भूतानां संस्कारादीनां भूयोनिष्पत्तये अविद्याबीजादीनाम् पादानं क्रियते, एवमन्यदपि तदुत्पत्तये न कर्तव्यं स्यात्। तत्स्वभावस्य विद्यमानत्वादिति।

प्र० प०, पृ० ११३

२. म० शा०, पृ० ४५

बौद्ध विचारकों ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान के रूप में पंच स्कन्धों की कल्पना की है। ये पांचों स्कन्ध उत्पाद और व्यय के क्रम से निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं क्योंकि इनका उत्पाद और व्यय होता है इसलिए ये क्षरणशील भी हैं। इसलिये जब बौद्ध आचार्यों में आत्म-विचार होता है तो यह कहा जाता है कि यदि स्कन्धरूप आत्मा को स्वीकार किया जाता है तो स्कन्धों के उत्पाद-व्यय स्वभावी होने के कारण आत्मा भी उत्पाद-व्यय स्वभावी होगा। और जब आत्मा उत्पाद-व्यय स्वभावी होगा तो फिर वह आत्म पद से अभिव्यक्त करने योग्य नहीं रह सकेगा। और यदि आत्मा को स्कन्ध-लक्षण नहीं कहा जायेगा तो वह अविद्यमान या असंस्कृत होगा और 'ख' पुष्प अथवा निर्वाण के सदृश आत्म-उपदेश का कोई लाभ नहीं होगा[1]।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि तत्त्व परोपदेश गम्य नहीं है, वह स्वसंवेद्य है। जैसे तिमिर रोग से ग्रसित और दृष्टि-विभ्रमित किसी को उपदेश देने पर यह तो कहा जा सकता है कि तुम्हारी यह दृष्टि उपयुक्त नहीं है किन्तु उसे यथार्थ रूप से किसी भी रंग का दर्शन नहीं कराया जा सकता, उसी तरह से जो आत्म दृष्टि से विभ्रमित हो गये हैं उन्हें अनात्म दृष्टि का उपदेश तो किया जा सकता है किन्तु अनात्म रूप को यथार्थ रूप से दिखाया नहीं जा सकता। स्वसंवेदी दृष्टि से उन्हें स्वयं आत्मा की अनित्यादि यथार्थता को देखना होगा।

---

१. तत्र यदि आत्मा "स्कन्धा" इति परिकल्पयते, तदा उदयव्यय भाग् उत्पादी च विनाशी च आत्मा प्राप्नोति, स्कन्धानामुदयव्ययभावत्वात्। न चैवमिष्यते, आत्मनेकत्वदोष प्रसङ्गात्। प्र० प०, पृ० १४५

शान्तिदेव :-

आचार्य शान्तिदेव का जन्म स्थान सौराष्ट्र माना जाता है। इनका समय सातवीं शताब्दी रहा है। इनके विषय में कहा गया है कि ये श्री हर्ष के पुत्र शील के समकालिक थे किन्तु भारतीय परम्परा में अथवा चीनी परम्परा में शील नाम के किसी भी आचार्य का नाम प्राप्त नहीं है। आचार्य शान्तिदेव के विषय में यह कहा गया है कि इनका परिवार राज परिवार था और ये राजपुत्र थे। इन्होंने तारा के प्रभाव से राज्य का परित्याग किया था। स्वयम् बोधिसत्व मंजु श्री ने योगी के रूप में इनको दीक्षा दी थी और इसी कारण वे भिक्षु बन गए थे।

शान्तिदेव के जीवन के विषय में यह प्रचलित है कि जब इनका राज्याभिषेक हुआ तो इनकी माता ने कहा कि यह राज्य केवल पाप का हेतु है तुम वहाँ जाओ, जहाँ पर बोधिसत्व और बुद्ध मिलें। मंजुबज्र के पास जाने से तुमको निःश्रेयस् की प्राप्ति होगी। माता की यह बात सुनकर वह एक हरितवर्ण के घोड़े पर सवार होकर अपने पिता के राज्य से चला गया। वह कई दिनों तक चलता रहा और तब वन में जाते हुए उसके घोड़े को एक सुन्दरी ने पकड़ लिया तथा उसे घोड़े से उतार कर कहा कि मैं मंजुबज्र की शिष्या हूँ। शान्तिदेव प्रसन्न हुए। उन्होंने बारह वर्ष तक गुरु के पास रहकर शिक्षा प्राप्त की और फिर गुरु का आदेश पाकर मध्यदेश की ओर प्रस्थान किया। मध्यदेश में जाकर वह राजा के यहाँ अचलसेन नाम रखकर रहने लगा। उसने देवदारु की एक तलवार बनवाई और उससे सभी के सामने अपना वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया। राजा ने जब अचलसेन की विशिष्टता देखनी चाही तो उनकी एक आँख जाती रही।

आचार्य शान्तिदेव के नाम से तीन ग्रन्थों का प्रणयन स्वीकार किया जाता है। ये रचनाएँ हैं बोधिचर्यावतार, सूत्रसमुच्चय तथा शिक्षा समुच्चय।

आचार्य ने इन अपने ग्रन्थों में अन्य माध्यमिक आचार्यों की ही भाँति माध्यमिक नय की स्थापना की है। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं कि आत्मा और पुद्गल नित्य रूप से विद्यमान नहीं हैं। इनके न होने से ही जाति-स्मरण भी संभव नहीं होता है।[1]

नैरात्म्य की स्थापना में सभी धर्मों की अनात्मता का आख्यान इस रूप में है कि रूप, वेदना आदि फेन पिण्ड के सदृश हैं। संज्ञा मृगमरीचिका की भाँति हैं, संस्कार उस कदली के खम्भे की तरह हैं जिसमें कुछ भी नहीं निकलता। इसी तरह से विज्ञान माया के सदृश है। यही कारण है कि सभी धर्म नैरात्म्य संज्ञक हैं।[2]

इसी तरह से यह निरूपित किया गया है कि जगत् के समस्त पदार्थ न सत्तात्मक हैं और न असत्तात्मक। इसलिए इनका न उत्पाद होता है और न ही निरोध होता है। यही अनात्मा की अवधारणा और अनित्यता का स्वरूप है।[3]

---

१. उत्पन्नेषु संस्कारेष्वनन्तरभ्रमशीलेषु जात्यन्तस्मरणं न युज्यते। जन्मान्तरसंस्कारा हि यत्रोत्पनाः । तत्र एव नश्यन्ति। इहान्य उत्पद्यन्ते। तस्मात्मातीते काल एवमेवमभूदिति स्मृतिर्नुसंज्यते। स्याच्चेदात्मा नित्यस्तदैव जात्यन्तरचारित्वेनानुस्मृतिर्युज्यते।।
बो० च०, पृ० २२३

२. फेनपिण्डोपमं रूपं वेदना बुद्बुदोपमा
मरीचि सदृशीसंज्ञा संस्काराः कदलीनिभाः। मि० प्र०, पृ० १३, बो० च०, पृ० १७०

३. एवं च न निरोधोस्ति न च भावोस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिदं जगत्।। बो० ।शा०।, पृ० १२७

माध्यमिक दृष्टि का समीक्षात्मक स्वरूप :-

यह कहा गया है कि जो सकल मध्यमक शास्त्र का अभिधेयार्थ है, उससे अभिन्न स्वभाव परम गुरु तथागत का है और वही प्रतीत्य समुत्पाद है। यही कारण है कि माध्यमिक दर्शन के आचार्य नागार्जुन अनिरोधादि अष्ट विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रकाशित करते हैं और अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथागत की वन्दना करते हैं। वे प्रतीत्य समुत्पाद के अष्टाङ्गों का विवरण देते हुए कहते हैं कि निरोध क्षण भंगता है किन्तु तत्त्व में कोई क्षणभंगता नहीं है। इसलिए वह अनिरोध है। जिसमें क्षण भंगता होती है वह निरोध कहा जा सकता है। इसी तरह से यह कहा गया कि उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है तत्त्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है इसलिए अनुत्पाद तत्त्व है। जो तत्त्व नहीं है वह उत्पाद कहा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद का तीसरा अंग अनुच्छेद है। उच्छेदन संतान-प्रबन्धन का विच्छेद है किन्तु तत्त्व में विच्छेद नहीं है इसलिए वह अनुच्छेद है। इसी तरह से आचार्य अशाश्वतता, अनानार्थता, अनिर्गमता का भी विश्लेषण करते हैं और कहते हैं कि तत्त्व वह है जो आगम से रहित है, निर्गम जिसमें नहीं है। आगम यदि होता है तो निर्गम भी स्वाभाविक रूप से होता है क्योंकि जहाँ आगम रहेगा वहाँ निर्गम भी रहेगा। तत्त्व ही एक मात्र ऐसा है जहाँ किसी रूप में आगम नहीं है इसलिए निर्गम भी नहीं है। निर्गम आगम सापेक्ष होता है।

आचार्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति का समान रूप से यह मानना है कि संवृत्ति की सिद्धि इदम्प्रत्ययता मात्र से होती है। इसलिए माध्यमिक स्वतः, परतः, उभयतः, अहेतुततः इन सभी पक्षों का अभ्युपगम नहीं करता है। इदम्प्रत्ययता के अभ्युपगम से हेतु-फल की अन्योन्यापेक्षता सिद्ध होती है। इससे सांवृतिक अवस्था में भी स्वभाववाद निरस्त होता है। आचार्य कहते हैं कि जब भगवान् यह कहते हैं कि इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद होने से यह उत्पन्न होता है, तब सांवृतिक निःस्वभावतः ही प्रकट होती है।

आचार्य के इस कथन पर जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि भाव अनुत्पन्न हैं-क्या यह निश्चय प्रमाण जन्य है अथवा अप्रमाणज है। क्योंकि यदि यह प्रमाणज है तो प्रमाणों की संख्या और उनके लक्षणों का निरूपण करना पड़ेगा। यदि यह कहा जाएगा कि यह अप्रमाणज है तो फिर यह कहना संभव नहीं होगा कि प्रमेय का अधिगम प्रमाणाधीन होता है यदि प्रमाण नहीं है तो अधिगत नहीं होगा और यदि अधिगम नहीं होगा तो भाव अनुपपन्न हैं- यह निश्चय नहीं हो सकेगा। तब आचार्य चन्द्रकीर्ति ने यह निरूपित किया कि माध्यमिकों के मत से कोई निश्चय नहीं है। इसलिए प्रमाणज और अप्रमाणज का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। इसी तरह माध्यमिकों के पक्ष में कोई अनिश्चय भी नहीं है जिसके विपरीत प्रतिवाद प्रस्तुत किया जा सके।

मध्यमा प्रतिपद् की सिद्धि में आचार्य यह भी तर्क देते हैं कि यह विचार करना होगा कि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है अथवा अभिन्न। यदि यह कहा जाएगा कि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है तो लक्ष्य से भिन्न अलक्षण भी है। ऐसी स्थिति में लक्षण भी अलक्षण की तरह ही भला क्यों नहीं होगा? इसी तरह लक्षण से भिन्न होने के कारण अलक्ष्यवत् लक्ष्य भी लक्ष्य नहीं रहेगा। दूसरा दोष यह होगा कि लक्षण जब लक्ष्य से भिन्न है तब अवश्य ही लक्षण निरपेक्ष है किंतु यदि लक्षण निरपेक्ष लक्ष्य है तो 'ख' पुष्प के समान वह लक्ष्य न होगा। इन दोषों से बचने के लिए यदि लक्ष्य-लक्षण की अभिन्नता मानें, फिर भी दोष मुक्तता नहीं होगी। लक्षण जैसे लक्षण से अभिन्न होने के कारण अपना लक्षणत्व छोड़ देता है उसी प्रकार लक्ष्य भी अपनी लक्ष्यता का परित्याग कर देगा।

जो लक्ष्य-लक्षण की अवाच्यता पर उसकी सिद्धि चाहते हैं वे वस्तुतः यथार्थ के निकट नहीं हैं और उन्हें भ्रान्ति है। अवाच्यता के लिए परस्पर विभागों का परिज्ञान न रहना आवश्यक है। यदि ज्ञान के द्वारा लक्ष्य-लक्षण का परिच्छेद माना जाएगा तो फिर यह प्रश्न उठेगा कि परिच्छेद का कर्ता कौन है। कर्ता के अभाव में ज्ञान का करणत्व भी संभव नहीं है। चित्तकर्ता नहीं हो सकता क्योंकि अर्थमात्र के दर्शन चैतसों का व्यापार है। क्योंकि माध्यमिक काठिन्यादि के अतिरिक्त पृथिवी रूप लक्ष्य नहीं मानते, इसलिए लक्ष्यातिरिक्त निराश्रय लक्षण भी सिद्ध नहीं होता।

बौद्ध परम्परा में सर्वास्तिवादी हेतुवादी हैं। वे भावों के परतः उत्पाद में प्रतिपन्न हैं। वे यह निरूपण करते हैं कि भगवान् ने हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय तथा अधिपति-प्रत्यय की देशना की है। उनका मत है कि जो निर्वर्तक हैं वह हेतु हैं। जो बीज भाव से अवस्थित होता है उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं। जिस आलम्बन में धर्म पदार्थ उत्पन्न होता है वह आलम्बन प्रत्यय है। कारण का अनन्तर निरोध कार्य का समनन्तर प्रत्यय है।

आचार्य माध्यमिक दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए भावों की परतः उत्पत्ति नहीं मानते हैं। वे यह कहते हैं कि भावों की उत्पत्ति के पहले व्यस्त या समस्त रूप में यदि हेतुओं की सत्ता हो तो उनसे भावों का उत्पाद सम्भव हो, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि उत्पाद से पूर्व हेतु होंगे तो उनकी उपलब्धि होगी। यदि वे उपलब्ध हैं तो फिर उत्पाद व्यर्थ है।

इसी तरह से आचार्य कहते हैं कि जिस कारण के होने पर कार्य होता है वह उसका अधिपति प्रत्यय है। किन्तु समस्त भाव प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं इसलिये स्वभाव से रहित हैं। फल की दृष्टि से भी हेतु नहीं हैं क्योंकि तन्तु, तुरी वेमादि में पट उपलब्ध नहीं होता। यदि उपलब्ध होगा तो तन्तु, तुरी वेमादि कारणों की बहुलता से कार्य की बहुलता होगी। समुदित तत्वादि में भी यह नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक अवयवों में पट नहीं है। इस प्रकार फल उपलब्ध नहीं है।

आचार्य माध्यमिक दर्शन का फलात्मक स्वरूप निरूपित करते हुए आत्मा अथवा पुद्गल का निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि वस्तुतः भाव और अभाव दोनों का ही अभिनिवेश नहीं माना जाना चाहिए। दर्शनादि से पूर्व आत्मा नहीं है। आत्मा दर्शनादि से सहभूत भी नहीं है। शशश्रृङ्ग के समान पृथक्-पृथक् असिद्ध वस्तुओं का सहभाव नहीं देखा जाता है। आत्मा और उपादान निरपेक्ष हैं और पृथक्-पृथक् असिद्ध हैं। इसलिये आत्मा वर्तमान भी नहीं है। ऊर्ध्व भी नहीं है, क्योंकि जब पूर्वकाल में दर्शनादि हों तो उत्तरकाल में आत्मा हो। इस तरह से आत्मा की परीक्षा करने पर जब वह दर्शनादि से प्राक्, पश्चात् और युगपत् सिद्ध नहीं है तो उसके अस्तित्व-नास्तित्व का विचार करना ही व्यर्थ है।
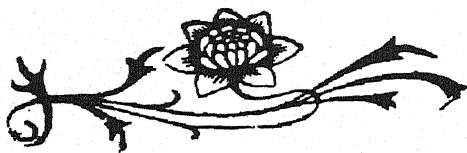
द्वितीय अध्याय

शङ्कराचार्य
तथा
उनकी परम्परा

द्वितीय अध्याय

(शङ्कराचार्य तथा उनकी परम्परा)

आचार्य शङ्कर : समय एवं रचनाएं, वाचस्पति मिश्र : समय एवं रचनाएं, सुरेश्वराचार्य : समय तथा रचनाएं, भास्कराचार्य, रचनाएं तथा दर्शन दृष्टि, मधुसूदन सरस्वती : समय एवं रचनाएं, मण्डन मिश्र, अन्य आचार्य, पद्मपादाचार्य, नृसिंहाश्रम, नारायणानन्द सरस्वती, अमलानन्द, अखण्डानन्द, आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द, अद्वैत दर्शन के आचार्य तथा उनकी दर्शन दृष्टि।

द्वितीय अध्याय

(शङ्कराचार्य तथा उनकी परम्परा)

आचार्य शङ्कर : समय एवम् रचनायें :-

सम्राट हर्षबर्धन की मृत्यु के उपरान्त भारत के राजनैतिक जीवन में विकेन्द्रीकरण की भावना बलवती हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत का विभाजन छोटे-छोटे राज्यों में होने लगा। इस समय तक उत्तर भारत के अधिकतर राज्यों में राजपूतों का अधिकार था। इसीलिए इतिहास में सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का समय राजपूत काल के इतिहास के नाम से जाना जाता है। उस समय तक जो स्थिति उत्तर भारत की थी, वही स्थिति लगभग दक्षिण भारत की थी। वहाँ भी गुप्त साम्राज्य के क्षीण होने से अनेक छोटे-छोटे राजवंश स्थापित हो गये थे। इन राजवंशों में प्रधान थे-चालुक्य,राष्ट्रकूट आदि। इनके अतिरिक्त देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय, कोंकण के शिलाहार, तलकाण्ड के गंग तथा पल्लव आदि प्रमुख थे। ये सभी राजवंश तब भोग-विलास में मस्त थे और इनकी महत्वाकाँक्षाएं भी अधिक थीं। फलस्वरूप ये सभी आपस में ही सत्ता संघर्ष में व्यस्त रहते थे और समाज, धर्म तथा संस्कृति के प्रति पूर्ण रूप से उदास थे। इसी के साथ जो एक संकट और आ रहा था, वह था विदेशी मुगलों के आक्रमण का । ७५१ ईसवीय में समरकन्द के पास अरबों ने अधिकतम रूप में कब्जा कर लिया था और असंगठित भारत में इसी बहाने से धर्म और संस्कृति का भी ह्रास हो चला था। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य शङ्कर को परम्परा में जो समाज प्राप्त हुआ था, उसमें एक ऐसे मूल्य की स्थापना करनी थी, जिससे देश की अस्मिता की रक्षा हो सकती[१]।

---

१. आ० शं० द० सा०, पृ० ३

आचार्य शङ्कर एक अलौकिक और मेधा सम्पन्न पुरुष थे। इनकी अलौकिकता विद्वत्ता और अप्रतिम ज्ञान का आलोक देखकर कोई भी इनके सामने नत होने से स्वयम् को रोक नहीं सकता। इनकी असाधारण तर्क पटुता और यथार्थ विवेचन की बुद्धि शीलता ऐसी थी कि इन्होंने इसके बल से ही एक ऐसे दर्शन को खड़ा कर दिया जिसने भारत के अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया। आचार्य शङ्कर का अवतरण कब हुआ था, इस विषय में भी पर्याप्त मत भिन्नता है। कोई इन्हें सप्तम् शताब्दी का मानता है तो कोई आचार्य शङ्कर को प्रथम शताब्दी में आविर्भूत हुए आचार्य के रूप में देखता है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचिलित हैं। एक भारतीय विद्वान टी. आर. चिन्तामणि ने यह कहा है कि आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव ६५५ से ६८६ ईसवीय के बीच हुआ था[१]। डॉ. के० बी० पाठक ने यह लिखा है कि आचार्य शङ्कर का प्रादुर्भाव काल ७८८ से लेकर ८२० शती के बीच का माना जाना चाहिए। एक अन्य भारतीय परम्परा में यह स्वीकार किया गया है कि इनका प्राकट्य वैशाख शुक्ल तृतीया सम्वत् ६८६ को हुआ था[२]। किन्तु इन सभी मान्यताओं के बीच अधिकतम रूप से यही मान्य है कि आचार्य शङ्कर ६५५ से ६८६ ईसवीय के मध्य प्रादुर्भूत हुए थे[३]।

---

१. ज० ओ० आर० मै० (१९२९) , पृ० ३७-५५
२. आ० वि० भू०, पृ० ७
३. इ० ए० , पृ० १७३-१७५

आचार्य शङ्कर अल्पजीवी रहे। उनके जीवन का एक समय केवल ३२ वर्ष की अल्पायु का रहा और इतने ही कम समय में इन्होंने वैदिक धर्म के उद्धार और उसकी प्रतिष्ठा का काम किया वह अप्रतिम है। यही कारण है कि उनके इस महान् कार्य को देखकर अनेक विचारक और विद्वान यह कहने लगे हैं कि वे आचार्य शङ्कर के अवतार थे। दक्षिण भारत में मालाबार प्रान्त के एक नम्बूरीपाद ब्राह्मण के घर जन्म लेकर उन्होंने काशी को अपना कर्म क्षेत्र बनाया। आचार्य गौड़पाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे। इनके विषय में एक यह उक्ति है कि आठ वर्ष में इन्होंने चारों वेदों का अध्ययन किया, बारह वर्ष में सभी शास्त्रों के पण्डित हुए, सोलह वर्ष की अवस्था में अपने ग्रन्थों का भाष्य किया और बत्तीस वर्ष में मुनि ने महाप्रयाण किया[1]।

आचार्य शङ्कर की रचनाएं मुख्यतः मूल ग्रन्थों के भाष्य हैं इनमें उनकी प्रस्थान त्रयी बहुत प्रसिद्ध है। प्रस्थान त्रयी में ब्रह्मसूत्र का भाष्य, उपनिषद भाष्य और गीता भाष्य, विष्णु सहस्त्र नाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, सौन्दर्य लहरी, उपदेशसहस्त्री, माण्डूक्यकारिका भाष्य हैं। आचार्य शङ्कर की शैली वैदुष्यमय होती हुई भी इतनी ललित है कि इनके रचना-कौशल से गम्भीर से गम्भीर विषय भी ललित रूप में प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि आचार्य का विवेचन-विषय दार्शनिक और शुष्क है, तथापि इनकी ललित रचना शैली से कहीं भी ऊबन नहीं होती।

---

१. अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्र वित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरम्यगात्।। भा० द० (ब.), पृ० ३४२

शङ्कर मूल रूप से अद्वैतवादी आचार्य हैं। ब्रह्म तथा अद्वैत की सत्ता को सिद्ध करने के लिये उन्होंने अध्यास, अविद्या और माया के सिद्धान्त का तार्किक बुद्धि से प्रयोग किया है। उनके सिद्धान्त के अनुसार संसार का सारा प्रपंच द्वैत रूप है और यह द्वैत अविद्या या माया से कल्पित है इसलिये इसमें परमार्थ सत्ता का निषेध कर अद्वैततत्त्व की स्थापना की जाती है। अविद्या ही, आचार्य शङ्कर के अनुसार द्वैत का कारण है। इसी अविद्या के कारण आत्म और अनात्म पदार्थों का आपस में अध्यास अनुभव किया जाता है। यद्यपि आत्म और अनात्म पदार्थों में कोई समानता नहीं है फिर भी अनादिकाल से लोक व्यवहार में इनका आपसी अध्यास देखा जाता है। यही कारण है कि आचार्य ब्रह्म सूत्र में यह स्थापना करते हैं कि सत्य और अनृत के मिथुनत्व से संसार का यह व्यवहार नैसर्गिक है[१]। संसार का यही व्यवहार यह अनुभूति कराता है जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और अन्येन्द्रियों में आत्म तत्त्व का आभास होता है। किन्तु जो विवेकी हैं वे इन पदार्थों में अनात्मता देखकर और आत्मा के स्वरूप को यथार्थ रूप में जानकर विवेक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यही विवेक ज्ञान विद्या या ज्ञान कहा जाता है और इसी के लिए वेदान्त में कहा गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

---

१. आ० शं० द० सा०, पृ० २

आचार्य शङ्कर ने व्यवहार-दृष्टि और परमार्थ-दृष्टि दोनों का समान रूप से विचार किया है। नित्य, असीम और अपरिवर्तनशील ब्रह्म अविभाज्य हैं और जीवांश इसी का एक अंश है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं। वेदान्त चिन्तन में ज्ञान के दो भिन्न-भिन्न रूप कहे गये हैं- पराविद्या और अपराविद्या। इनमें से पहले का अर्थात् पराविद्या का सम्बन्ध ब्रह्म चिन्तन से नहीं है जबकि अपराविद्या का सम्बन्ध ब्रह्म सम्बन्धी विचार से है। इस रूप में आचार्य यह भी कहते हैं कि व्यवहारिक रूप में जो जीव है परमार्थिक रूप से वही ब्रह्म है। यद्यपि उपनिषदों में सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म का कथन किया गया है, किन्तु यह भी परमार्थ भेद न होकर व्यवहार भेद ही है। आचार्य शङ्कर अपने अद्वैतवादी दृष्टिकोण से यह कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय, जीव और ईश्वर का भेद ये सभी माया के विभ्रम के कारण हैं- यथार्थ दृष्टि में तो सभी कुछ ब्रह्म रूप ही है। वह अद्वैत और सत् है। उसे ही आत्मा अथवा ब्रह्म पद से वाच्य किया गया है।

आचार्य के इसी प्रतिपादन से मुक्ति का जो स्वरूप प्रकट होता है, उसके अनुरूप यह कहा जाता है कि जीव जो यथार्थ में ब्रह्म रूप है, वह कभी बंधता नहीं है इसलिए उसके मुक्त होने का भी कोई प्रश्न नहीं उत्पन्न होता है। यह जो बंधन और मोक्ष का प्रश्न है वह केवल अविद्या जनित है और इसी अविद्या के बंधन से बंधा हुआ जीव अपने को बंधा हुआ पाता है। जैसे ही वह अविद्या से मुक्त होता है वह मुक्ति का अनुभव करता है यह जीवन्मुक्त अथवा जीवनोपरमुक्ति हो सकती है।

आचार्य शङ्कर ने ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' सूत्रस्थ ''अथ'' शब्द का अर्थ करते हुए यह निरूपण किया है कि वहाँ आनन्तर्य धर्म मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा का सम्बन्ध सम्भव नहीं किन्तु नित्यानित्य -वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमादिषड्, साधनसम्पत्ति, मुमुक्षता- इनसाधन-चतुष्टयसम्पत्ति का आनन्तर्य ब्रह्मजिज्ञासा में उपपन्न है। इसलिए साधन चतुष्टय सम्पन्न होने के अनन्तर ही ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए।[1]

आचार्य भास्कर आचार्य शङ्कर के इस सिद्धान्त से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं और कहते हैं कि धर्म विचार और ब्रह्म विचार का आनन्तर्य असम्भव नहीं है क्योंकि सूत्रकार ज्ञानकर्म-समुच्चय को मोक्ष का साधन मानते हैं। वे यह तर्क देते हैं कि श्रुति में कहा गया है कि श्रुति के द्वारा विहित यज्ञादि कर्मों की सहायता से ही तत्त्व ज्ञान मोक्ष का साधन बन सकता है- एकाकी नहीं[2]। और इसके साथ ही वे यह कहते हैं कि यज्ञादि का ज्ञान और यज्ञादियों का विधिवत् सम्पादन धर्म मीमांसा के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए कर्मज्ञान के लिए धर्म विचार कर लेने के अनन्तर ही ब्रह्मविचार करना और ब्रह्म-प्राप्ति करना सम्भव होगा।

---

१. नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसम्मत् मुमुक्षुत्वन्च..............तस्मात् अथ शब्देन यथोक्तसम पत्यानन्तर्यमुपदिश्यते। ब्र० शां० भा० /१/१/१

२. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन। बृ० ४/४/२२

वाचस्पति मिश्र : समय एवम् रचनाएं :-

बिहार की भूमि, जो पूर्व में मिथिला भूमि कही जाती थी, संस्कृत के उद्भट विद्वानों की जन्म स्थली रही है। आचार्य वाचस्पति के नाम से ही यहाँ पर तीन आचार्यों का नाम लिया जाता है। एक आचार्य वाचस्पति मिश्र हैं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र षड्दर्शन टीकाकार । दूसरे वाचस्पति मिश्र हैं- खण्डनोद्धार ग्रन्थ के रचयिता तथा तीसरे आचार्य वाचस्पति मिश्र हैं- धर्मशास्त्रों के प्रख्यात वक्ता। इन आचार्यों में वेदान्त, न्याय और सांख्य दर्शन में समान रूप से अपनी रचनाएं प्रस्तुत करने वाले और इन रचनाओं के माध्यम से प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले विद्वान वाचस्पति मिश्र ही वेदान्त परम्परा के ऐसे सूर्य हैं जिनका प्रकाश आज तक वैदुष्य मण्डल में आभासित है।

इस समय बिहार कहे जाने वाले प्रान्त में दरभंगा मण्डल में अन्धराठाढ़ी नामक एक गाँव है। यह संस्कृत जगत् का एक विशेष कथ्य कहा जा सकता है जिसमें इस आचार्य ने स्वयम् ही अपने जन्म समय के विषय में संकेत किया है। उनके द्वारा दिये गये संकेतों का जो अर्थ दिया गया है तदनुसार यह कहा जाता है वाचस्पति की ग्रन्थ-रचना, उनकी प्रसिद्धि, ज्ञानश्री द्वारा उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों का निर्माण और उन ग्रन्थों की लोक प्रसिद्धि तथा आचार्य उदयन द्वारा ज्ञानश्री के ग्रन्थों की समालोचना आदि के लिये आचार्य वाचस्पति और उदयन के मध्य सौ-डेढ़ सौ वर्ष का समय अपेक्षित है। इसलिये आचार्य वाचस्पति का जन्म-समय ८९८ विक्रम सम्वत् माना जा सकता है[१]। इतिहासविदों ने इस पर भली प्रकार विचार किया है और अधिक मत से आचार्य वाचस्पति मिश्र का यही जन्म-समय स्वीकार किया है[२]।

---

१. भा० , पृ० २

२. हि० इ० ला०, पृ० ३४१

आचार्य वाचस्पति के जन्म-समय निर्धारण के लिए जो तर्क दिए जाते हैं उनके द्वारा यह कहा जाता है कि वाचस्पति मिश्र के आलोचक बौद्ध विद्वान ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र तथा उदयनाचार्य ऐसे आचार्य हैं जो इस आचार्य की उत्तर की अवधि निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं[१]। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपने ग्रन्थों में धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तिरक्षित जैसे आचार्यों का उल्लेख किया है। इतिहासविदों ने इन विद्वानों का समय आठवीं शती निश्चित किया है[२]। इसलिए आचार्य वाचस्पति मिश्र का समय नवम् शताब्दी माना जाना तर्क संगत प्रतीत होता है[३]।

आचार्य मिश्र ने अपने ग्रन्थ में स्वयम् ही अपने ग्रन्थों का संकेत किया है। इस उल्लेख के अनुसार इस आचार्य ने न्यायकणिका, ब्रह्मतत्त्व समीक्षा, तत्त्वबिन्दु, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूची-निबन्ध, सांख्यतत्त्वकौमुदी, तत्त्ववैशारदी एवम् भामती[४]।

किसी भी विद्वान का वैदुष्य उसकी भाषा शैली और भाव गाम्भीर्य से निखरता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र की भाषा सुष्ठु है और उनका भाव गाम्भीर्य तो ऐसा है ही जो उनके वैदुष्य को प्रकट करता है।

---

१. हि० इ० फि० (२), पृ० १४७

२. हि० इ० ला० , पृ० ३२३

३. भा० , पृ० ३

४. यन्न्यायकणिकातत्त्व समीक्षातत्त्वविन्दुभिः।
यन्न्यायसांख्य योगानां....................। भाम०, पृ० १०२०

आचार्य वाचस्पति मिश्र की रचनाओं में तीन ऐसी रचनाएं हैं जो वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित कहीं जा सकती हैं। इनमें से एक रचना है- ब्रह्म तत्त्व समीक्षा। यह कृति मूल रूप से आचार्य मण्डन मिश्र की रचना ब्रह्मसिद्धि पर वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखी गई एक सफल टीका है। उन्होंने यह संकेत किया है कि उन्होंने इस रचना को न्यायकणिका के अनन्तर लिखा है। यद्यपि इस समय यह टीका उपलब्ध नहीं है तथापि इसके उल्लेख मात्र से ही यह पता चलता है कि यह टीका ब्रह्म विचार की पुष्ट टीका है। यद्यपि आचार्य मण्डन की मूल कृति का अनुवाद होने के कारण यह भी कहा जाता है कि इसमें वाचस्पति मिश्र ने मण्डन के सिद्धान्तों का अनुकरण मात्र किया है।

इस आचार्य की दूसरी रचना तत्त्व बिन्दु कुमारिल भट्ट के मत का आश्रय लेकर रची गई है। इसलिए यह रचना शब्दबोध प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ को शब्दतत्त्वबिन्दु के नाम से भी कहा जाता है।

वस्तुतः मीमांसा दर्शन के भाष्यकार शबर स्वामी ने शब्द के विषय में यह कहा है कि वक्ता के मुख से उत्पन्न ध्वनि से अभिव्यक्त होने वाला वर्णात्मक शब्द ही अर्थ का बोध कराता है। वर्ण उद्भवाभिभवशाली है किसी वाक्यगत वर्णावली के पूर्व-पूर्व अभिव्यक्त वर्णों के संस्कार से संस्कृत अन्तिम वर्ण की उपलब्धि अर्थबोध कराती है। इन्हीं सिद्धान्तों का दिग्दर्शन तत्त्वबिन्दु में कराया गया है। इस ग्रन्थ में स्फोटवाद का खण्डन भी शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट के मत के अनुसार किया गया है। मण्डन मिश्र के लिए आदर वाचक आचार्य शब्द का प्रयोग करने पर भी इन्होंने उनके मत का खण्डन किया है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आत्मख्यातिपरक मत का समर्थन किया है। यद्यपि आचार्य शङ्कर ने आत्मख्याति पद का प्रयोग नहीं किया है। बौद्धों में वाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी वैभाषिक हैं, वाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक हैं और वाह्यार्थ को अविद्या विलास मानने वाले योगाचारवादी हैं। ज्ञान की सत्ता में तीनों समान भाव से मानते हैं। अधिष्ठानभूत उस वाह्य पदार्थ शुक्ति में आन्तरज्ञाताकारता का आरोप होता है। योगाचार ज्ञान मात्र की सत्ता मानता है। वह वाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानता। वह वाह्य पदार्थों को अनादि-अविद्या वासना से ज्ञान में आरोपित, इसलिये अलीक मानता है क्योंकि वाह्य शुक्त्यादि पदार्थ में आन्तर ज्ञानाकार रजतादि का आरोप होता है। इस तरह से योगाचार मत में भी वाह्य शुक्त्यादि में आन्तर ज्ञानाकार रजतादि का आरोप होता है। यहाँ वाह्य शुक्त्यादि अधिष्ठान में आन्तर ज्ञानाकार रजत का आरोप होता है इसका यही तात्पर्य है कि आन्तर रजत में वाह्यता की इदन्ता की प्रतीति होती है। इसीलिए "इदं रजतम्" ऐसा व्यवहार होता है। "नेदं रजतम्" इस बाध ज्ञान से ज्ञानाकार रजत में इदन्तारूप वाह्यता का बाध हो जाता है और रजत आन्तर ज्ञानाकार में प्रतिष्ठित हो जाती है। उसका बाध नहीं होता। इसलिए आत्मख्याति में इदन्ता धर्म का बाध ही होता है और यही वाचस्पति मिश्र का निरूपित सिद्धान्त उपपन्न मान लिया जाता है अर्थात् इस सिद्धान्त की पुष्टि ही आचार्य वाचस्पति मिश्र करते हैं[१]।

---

१. भा० , पृ० २६

वेदान्त से सम्बन्धित रचना भामती आचार्य वाचस्पति मिश्र की एक प्रौढ़ रचना है। इस रचना के विषय में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ हैं। एक किंवदन्ती यह है कि सन्तान हीनता की स्थिति में आचार्य ने अपनी पत्नी भामती के नाम पर इस रचना का नामकरण भामती कर दिया। कुछ लोगों का यह कहना है कि आचार्य की पुत्री का नाम भामती था, इसलिये इन्होंने इस रचना को भामती नाम दिया। एक अन्य किंवदन्ती में यह कहा जाता है कि इनके निवास स्थान का नाम भामह था और उसी पर इनकी रचना का नाम भामती हुआ ।

जो भी हो भामती वेदान्त दर्शन की एक ऐसी रचना है जिसके उल्लेख के बिना वेदान्त दर्शन की पूर्णता का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

भामती आचार्य शङ्कर के भाष्य पर लिखी गई टीका है जो परिपूर्ण इसलिए कही जाती है क्योंकि इससे पूर्व पद्मपादाचार्य भी पंचपादिका नाम की टीका लिख चुके थे किन्तु वह न तो इतनी प्रौढ़ थी और न ही सम्पूर्ण थी। वह केवल चतुःसूत्री पर्यन्त ही लिखी गई थी। इसलिये आचार्य शङ्कर के भाष्य को भली प्रकार जानने के लिए यह अपरिहार्य है कि भामती का परिचय सम्पूर्णता के साथ किया जाए। भामती में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने केवल अपने सिद्धान्तों को ही पुष्ट नहीं किया अपितु उन्होंने पर सिद्धान्तों का खण्डन भी तर्क देकर किया है। भामती की रचना आचार्य ने शाङ्करभाष्य की विवृति, विरोधी मतों के तर्क प्रहार से ध्वस्त वैदिक मार्ग की रक्षा, श्रुति सागर के मन्थन से ब्रह्मामृत का आविष्कार तथा शङ्कर और मण्डन मिश्र के दो भिन्न मतों को एक मंच पर उपस्थित करने के उद्देश्य से की है।

सुरेश्वराचार्य :-

रेवा के तट पर अवस्थित प्राचीन नगरी माहिष्मती आचार्य सुरेश्वर की जन्म भूमि थी। आचार्य सुरेश्वर का पूर्व नाम मण्डन मिश्र था किन्तु जब इनका शास्त्रार्थ आचार्य शङ्कर के साथ हुआ और ये शङ्कराचार्य से प्रभावित हुए तो इन्होंने संन्यास धारण कर लिया और तभी से इनका नाम सुरेश्वराचार्य कहा जाने लगा। इनके पाण्डित्य और वैदुष्य का यह प्रभाव था कि जब आचार्य शङ्कर ने मण्डन मिश्र के आवास का पता पूछा तो उनकी दासी ने उत्तर दिया कि स्वतः प्रमाणम् और परतः प्रमाणम्, कर्मफल की मीमांसा के सम्बन्ध में और जगत् की नित्यता तथा अनित्यता के सम्बन्ध में व्याख्यान करती हुई पिन्जरस्थ मैनाएं जिस घर के द्वार पर आपको दिखाई दें, हे महानुभाव! आप जान लें कि आचार्य मण्डन मिश्र का वही स्थान है।

कुछ इतिहासकार यह स्वीकार नहीं करते कि आचार्य मण्डन ही सुरेश्वराचार्य के नाम से जाने गये। वे कहते हैं कि मण्डन मिश्र प्रसिद्ध कोटि के मीमांसक थे और इन्होंने मीमांसा दर्शन की ख्यातिलब्ध रचनायें की हैं[१]।

समय तथा रचनायें :-

आचार्य सुरेश्वर का समय भी अनेक वादों में उलझा हुआ है किन्तु सभी ओर से जो निश्चयात्मक समय कहा जाता है, वह है- अष्टम शताब्दी[२]।

---

१. मी० द०, पृ० १४, अच्युत,पृ० ३९

२. भा०, पृ० ३०

आचार्य सुरेश्वर की रचनाओं में बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धिः दो ऐसी रचनाऐं हैं जो इनकी कीर्ति को धवलित करती हैं। आचार्य सुरेश्वर ने मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मसाधनता की अनुपयोगिता की है। इस सन्दर्भ में उन्होंने भर्तृप्रपंच, ब्रह्मदत्त के ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया है। अद्वैतवादी जो कर्म की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करते हैं वह मोक्ष प्राप्ति के प्रति उसमें कारणता के परिहार के लिए हैं। आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि वेदान्त वाक्य श्रवण से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है प्रख्यानादि की कोई आवश्यकता नहीं है। वेदान्तवाक्य श्रवण के अनन्तर वाह्य साक्षात्कार के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा का यह अभिप्राय है कि वेदान्त वाक्य निरर्थक हैं और वेदान्त वाक्यों की अपेक्षा अन्य साधन सबल हैं, आचार्य का यह तर्क है कि जिस प्रकार रस का ग्रहण करने में केवल रसनेन्द्रिय ही समर्थ है, अन्य कोई इन्द्रिय नेत्रादि से रस का ग्रहण नहीं हो सकता, उसी तरह से ब्रह्म का साक्षात्कार केवल वेदान्तवाक्यों से ही हो सकता है अन्य साधनों से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अब यदि कोई कहता है कि वेदान्तवाक्यों के अतिरिक्त भी साधन हैं जिनसे ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है, तो वह उसी तरह से अनौचित्य पूर्ण है जैसे यह कहना अनौचित्य पूर्ण है कि रसनेन्द्रिय के बिना भी रस का ग्रहण हो सकता है[१]।

---

१. नै० सि० ३/११७, १/७८

अद्वैतवेदान्त में आचार्य शङ्कर की पहली भूमिका इसलिए निरूपित है क्योंकि इन्हीं के सत् प्रयासों का ही फल है कि वेदान्त दर्शन में अद्वैत परम्परा का तार्किक और समीक्षात्मक स्वरूप खड़ा हो सका। इस रूप में जब वेदान्त दर्शन के अन्य आचार्यों की चर्चा की जाती है तो आचार्य सुरेश्वर का नाम बड़े आदर और महत्त्व के साथ लिया जाता है। इनकी रचनाओं के विषय में यह कहा जाता है कि इनकी रचना कीर्ति के दो स्तम्भ हैं एक बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक और दूसरी नैष्कर्म्यसिद्धिः। आचार्य सुरेश्वर ने इन दोनों ग्रन्थों में मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म साधना की अनुपयोगिता प्रतिपादित की है। उन्होंने भर्तृप्रपन्च,ब्रह्मदत्त और मण्डन के ज्ञानकर्मसमुच्चय का खण्डन किया है[१]।

आचार्य सुरेश्वर के जन्म-समय के विषय में भी उसी प्रकार का भ्रम है जिस प्रकार का भ्रम अन्य आचार्यों के जन्म-समय को लेकर है। फिर भी इनके जन्म समय को लेकर जो निष्कर्ष निकाला जाता है उसके अनुरूप इनका समय अष्टम् शताब्दी माना जाता है। कुछ इतिहासविद् यह मानते हैं कि आचार्य सुरेश्वर का पूर्व नाम मण्डन मिश्र था किन्तु बाद में जब आचार्य शङ्कर से प्रभावित होकर इन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण किया तो इनका नाम सुरेश्वर आचार्य हुआ। किन्तु इस मत का खण्डन भी प्रबल रूप से किया गया है[२]।

---

१. नै० सि० १/५४-७९, ३/८८- ९३, ३/१२३-१२६,
बृ० भा० वा० ४/४/७८६-८१०

२. हि० इ० फि० (भाग २), पृ० ८२-८७

भास्कराचार्य :-

संस्कृत साहित्य में यह एक परम्परा रही है कि अधिकतम आचार्यों ने अपने नाम तथा जन्म समय के विषय में कोई संकेत नहीं किया है जिससे यह जानना कठिन हो जाता है कि किस आचार्य का क्या वास्तविक नाम था, क्या उनका पारिवारिक विवरण था और उनके आविर्भाव का समय क्या था। यही स्थिति आचार्य भास्कर के सन्दर्भ में भी है जिन्होंने वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इनके जन्म समय के सम्बन्ध में जो विवरण दिए जाते हैं उनके अनुरूप इन्होंने आचार्य शङ्कर के मायावादी विचारों का उल्लेख करके उन्हें बौद्धों का अनुयायी मान करके उनका खण्डन किया है।[१] अपने ग्रन्थ न्याय कुसुमाञ्जलि में आचार्य उदयन ने इन्हें वेदान्त के व्याख्याता के रूप में कहा है और त्रिदण्डि ब्राह्मण के रूप में इनका उल्लेख किया है। ऐतिहासिक तथ्य यह संकेत देते हैं कि रामानुज के पूर्व ब्रह्मसूत्र के व्याख्याताओं को त्रिदण्डि कहा जाता था।[२] इसके साथ ही कहीं पर भी आचार्य भास्कर ने रामानुजाचार्य का उल्लेख नहीं किया है। आचार्य भास्कर ने अपने भाष्य में एक ऐसा संकेत दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि इन्होंने सम्भवतः छान्दोग्योपनिषद् पर भी कोई टीका लिखी थी किन्तु अब वह उपलब्ध नहीं है[३]। इसलिए भास्कराचार्य का समय नवीं सदी के प्रारम्भ का लगभग माना जाता है।

---

१. ब्र० सू० भा० १/४/२५

२. हि० इ० फि० ।३।, पृ०।

३. ब्र० सू० भा० १/४/२१, ४/३/१४

रचनाएँ तथा दर्शन-दृष्टि :-

भास्कराचार्य का महत्त्व इसी बात से अंकित किया जा सकता है कि न तो वे आचार्य शङ्कर का समर्थन करते हैं और न ही विष्णु तन्त्र का ही समर्थन करते हैं। यथार्थ में वे सम्प्रदाय निरपेक्ष हैं। अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के माध्यम से पुष्ट विचारों को प्रकट करते हैं। वेदान्त दर्शन के विकास में आचार्य शङ्कर से रामानुज तक आने में भास्कराचार्य द्वारा अनुपम योगदान किया गया है। आचार्य भास्कर तथा यादव प्रकाश अद्वैत वेदान्त के प्रथम विरोधी तथा वेदान्त सम्प्रदाय के उपमतों के प्रेरक आचार्य हैं। आचार्य निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेद स्पष्ट रूप से इनके प्रभाव को व्यक्त करता है। विशिष्टाद्वैतमत में भी यादव प्रकाश को पूर्वाचार्य माना गया है।[१] इनकी रचनाओं में ब्रह्मसूत्र पर भाष्य तो प्राप्त है और यह वेदान्त दर्शन का एक प्रतिष्ठित भाष्य है किन्तु इनके द्वारा छान्दोग्योपनिषद् पर किया गया भाष्य प्राप्त नहीं है।

भास्कराचार्य की दृष्टि से भेद ओर अभेद का आधार ब्रह्म का स्वरूप ही है। वह अनन्तशक्ति से सम्पन्न है। उसकी इसी शक्ति का प्रभाव है कि वह स्वयम् को तीन रूपों में विभक्त कर लेता है। वह कारण की अवस्था में अभिन्न तथा कार्य की अवस्था में भिन्न होता है[२]।

---

१. द्वै० ता० अ०, पृ० २४

२. ब्र० सू० भा० १/१/४

ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं। एक भोग्यशक्ति और दूसरी भोक्तृशक्ति। भोग्यशक्ति के द्वारा वह अपने आपको जगत् के रूप में और भोक्तृशक्ति के द्वारा जीव के रूप में परिणमित करता है। उनका यह विचार है कि ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है और वह कार्य भूत जगत् से अभिन्न है।

ब्रह्म की भोक्तृशक्ति का परिणाम जीव है। किन्तु यह ब्रह्म से अभिन्न न होकर भिन्न है। जिस तरह अग्नि की दाहकता तथा प्रकाशमयता दोनों परस्पर भिन्न हैं किन्तु कारणरूपा अग्नि एक है। उसी प्रकार से भिन्न परिणामों को परिणमित करने वाला कारणरूप ब्रह्म अभिन्न है, एक है। जीव ब्रह्म का परिणाम होने के कारण उससे भिन्न है किन्तु उसमें अभेद नामक धर्म भी है जो उसकी अभिन्नता की ओर संकेत करता है। जैसे एक ही समुद्र तरंगादि के भेद से भेदात्मक हो जाता है किन्तु मूल रूप में एक ही रहता है, उसी तरह से एक ही ब्रह्म जगत् रूप में नाना भेद हो जाता है और जीव रूप में भी दृष्टिगोचर होने लगता है किन्तु मूल रूप से वह एक है[1]।

---

१. अभेद धर्मस्य भेदो यथा महोदधेरभेदा: स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, न हि तरंगादय: भाषादिषु दृश्यते, तस्यैव ता: शक्तय:, शक्तिशक्तिमतोश्चान्यत्वपेयलक्ष्यते यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनादिशक्तय:............ तस्मात्सर्वमेकाने कात्मन: नात्यन्तं अभिन्नं भिन्नं वा।

ब्र० सू० भा०, २/३/१८

जीवात्मा हृदय में स्थित है। अविद्या के कारण वह अपरिणामी है वस्तुतः ईश्वर से अभिन्ता रखने के कारण वह यथार्थ रूप से अणुपरिणामी नहीं है। बुद्धि, अहंकार, पंचेन्द्रिय तथा पंचप्राण इसके पुनर्जन्म के हेतु हैं। बुद्धि के साथ जीव का सम्बन्ध उसका अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि और जीव का जब तक सम्बन्ध है तब तक जीव का स्वरूप सत्य है किन्तु इस सम्बन्ध का भी अन्तिम आधार ईश्वर है।

साधन के रूप में भास्कराचार्य ने ज्ञान और कर्म के समुच्चय को स्वीकार किया है। उन्होंने यह कहा है कि पुरुष को श्रुति सम्मत कार्य करना चाहिये। उसे किसी भी अवस्था में श्रुति से विमुख नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसा करना उसके श्रेय के लिये प्रतिकूल है। आचार्य शङ्कर का यह मानना है कि जो व्यक्ति मुक्त हो गये हैं उन्हें कर्म का बन्धन नहीं बाँधता और न ही वे सकाम कर्म करने के लिये बाध्य हैं किन्तु भास्कराचार्य को यह मत अभिप्रेत नहीं है। यद्यपि यह तथ्य है कि कर्म मोक्ष तक नहीं पहुँचा सकते किन्तु कर्मों की श्रेष्ठता से ही ज्ञान-प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है[१]। वे कहते हैं कि बन्ध और मोक्ष के मूल में राग ही है। यदि जीव का राग ब्रह्म विषयक हो जाये तो वही राग मोक्ष का दायक होता है और यदि वही राग जगत् विषयक हो जाए तो वह जीव के लिये जगत् के बंधने का हेतु हो जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम ब्रह्म राग से बंधे [२]।

---

१. द्वै० ता० अ०, पृ० २८

२. रागो हि परमात्मविषयो यः समुचित हेतुः विषयविषयो यः स बन्ध हेतुः।

ब्र० सू० भा० ४/४/८

मधु सूदन सरस्वती : समय एवं रचनायें :-

आचार्य मधुसूदन सरस्वती का परिचय उनकी रचनाओं से ही मिलता है। इसके अनुसार इनके वंश के मूल पुरुष का नाम श्री राम मिश्र था। इनका जन्म स्थान बंगाल के फरीदपुर के अन्तर्गत कोटालपाड़ा ग्राम था। इनके पिता का नाम प्रमोदन पुरन्दर था जिनके चार पुत्र थे। इन चारों पुत्रों में मधुसूदन सरस्वती तृतीय पुत्र थे। नवद्वीप में हरिराम तर्कवागीश शास्त्री से इन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। न्याय शास्त्र के प्रख्यात आचार्य गदाधर भट्टाचार्य इनके सहायाध्यायी थे। बाद में इन्होंने विश्वेश्वर सरस्वती से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया तथा इसके गहन अनुशीलन से प्रभावित होकर उन्हीं से संन्यास की दीक्षा भी ग्रहण की। आचार्य सरस्वती अपने गुरु को इतना आदर देते थे कि वे उन्हें आचार्य शङ्कर का द्वितीय अवतार कहा करते थे[१]।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के विषय में यह और कहा जाता है कि इनका पाण्डित्य सर्वतोमुखी था। इनका न्याय शास्त्र में भी इतना प्रगाढ़ पाण्डित्य था कि जब इनका शास्त्रार्थ गादाधरी के लेखक गदाधर भट्टाचार्य से हुआ तो उन्हें भी इनके पाण्डित्य के सामने नतमस्तक होना पड़ा था। मुधुसूदन सरस्वती जी ने अपने द्वारा की गई स्वीकारोक्ति में यह स्पष्ट किया है कि नाना विद्याओं के साथ तर्क में विशेष दक्षता प्राप्त हैं।

---

१. श्री शङ्कराचार्य नवावतारं विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्र श्रवणालसानां बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्।।
का० पा० प०, पृ० ३८

आचार्य सरस्वती जी की रचनाओं के विषय में जो जानकारी उपलब्ध है उसके अनुसार वेदान्त दर्शन में इनके ग्रन्थों में अद्वैत सिद्धि, सिद्धान्त विन्दु, वेदान्त कल्पलतिका, अद्वैत रत्न रक्षण, गूढ़ार्थदीपिका, रत्न रक्षण आदि ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ हैं- भगवद्भक्ति रसायन, आनन्द मन्दाकिनी तथा कृष्ण कुतूहल।

आचार्य सरस्वती, क्योंकि ब्रह्मानन्द, नृसिंहाश्रम सरस्वती आदि के समकालिक थे, इसलिए इनका समय सोलहवीं शताब्दी माना जाता है। सोलहवीं शताब्दी में काशी तथा देश के अन्य स्थानों में अनेक आचार्य ऐसे ख्यातिनाम हुए, जिन्होंने वेदान्त के क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थ अद्वैत सिद्धि में द्वैत का खण्डन कर जिस प्रकार से तर्क पूर्ण प्रमाणों से अद्वैत की सिद्धि की है, वह महत्त्वपूर्ण है। माध्वसंप्रदाय के आचार्य व्यासराज ने अपनी रचना न्यायामृत में भेदभाव को वेद प्रतिपाद्य, न्यायानुमोदित तथा तर्क सिद्ध किया था। आचार्य सरस्वती जी ने अपने इस ग्रन्थ में भेदवाद का कुशलता पूर्वक खण्डन किया है और यह निरूपित किया है कि अद्वैत की सिद्धि तथा इसकी प्रतीति के बिना मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। "अयमात्मा ब्रह्म, एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" का सिद्धान्त ही एक मात्र तर्क-निरूपित और वेदानुकूल सिद्धान्त है। इसी का निरूपण आदि आचार्य शङ्कर ने किया है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती की रचना सिद्धान्त विन्दु भी अद्वैत दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। आचार्य शङ्कर ने एक कृति दश श्लोकी लिखी है जिसकी टीका आचार्य सरस्वती ने की है और इसी माध्यम से वेदान्त के सम्पूर्ण तत्त्वों का निरूपण किया गया है। गूढ़ार्थदीपिका भगवद्गीता का विस्तृत भाष्य है जिसमें अनेक शास्त्रों का निरूपण और निचोड़ दिया गया है। आचार्य सरस्वती यद्यपि न्याय दर्शन के भी पुष्ट पण्डित थे किन्तु जब इन्होंने वेदान्त दर्शन के अद्वैत सिद्धान्त में अपनी आस्था निरूपित की तो इन्होंने न्याय ग्रन्थों और उनके सिद्धान्तों का खण्डन भी किया। जैसे आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने शङ्कर मिश्र के भेदरत्न का खण्डन किया है और इसके खण्डन के फलस्वरूप अद्वैत रत्न रक्षण नामक ग्रन्थ की रचना की है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती की कृष्ण भक्ति अतुलनीय है। वे जिस प्रकार के ज्ञानी थे, उसी प्रकार भक्त भी थे। उन्होंने अपनी भक्ति और ज्ञान के सम्मिश्रण से जिस प्रकार का मंजुलसामन्जस्य अपनी रचनाओं में दिया है, वह अनुपमेय है। उन्होंने अपने गीताभाष्य में विष्णु भगवान् के प्रति जिस प्रकार की भक्ति का परिचय दिया है उसका मनोहर ओर भावुक रूप इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

वंशी विभूषितकरान् नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्ब फलाधरोष्ठात्।।
पूर्णेन्दुसुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने[1]।।

---

१. का० पा० प०, पृ० ३९

मण्डन मिश्र :-

आचार्य शङ्कर की परम्परा में मण्डन मिश्र का नाम एक ऐसे आचार्य के रूप में लिया जाता है जो वेदान्त के क्षितिज पर दीप्यमान सूर्य की भाँति उद्भासित होते हैं। आचार्य मण्डन मिश्र का समय अष्टम् शताब्दी माना जाता है[1]। आचार्य मण्डन के विषय में यह कहा जाता है कि ये जहाँ एक ओर अद्वैत वेदान्त के उद्भट विद्वान थे वहीं इनकी प्रतिभा पूर्व मीमांसा में भी अप्रतिम थी। इस आचार्य की रचनाओं में विधि विवेक, भावना विवेक, विभ्रम विवेक, स्फोट सिद्धि तथा ब्रह्म सिद्धि प्रसिद्ध हैं। यद्यपि आचार्य मण्डन मिश्र अद्वैत वेदान्त का उसी प्रकार प्रतिपादन करते हैं जिस प्रकार आचार्य शङ्कर करते हैं तथापि आचार्य मण्डन मिश्र का आचार्य शङ्कर के साथ कतिपय बिन्दुओं के साथ मत-भिन्नता स्पष्ट है। आचार्य मण्डन ब्रह्म की शब्दात्मकता स्वीकार करते हैं। वे शब्द की नित्यता और उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए स्फोट सिद्धि नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं[2]। इसके विपरीत आचार्य शङ्कर न तो स्फोटवाद को स्वीकार करते हैं और न ही ब्रह्म के अतिरिक्त वे अन्य किसी ऐसे तत्त्व को स्वीकृति देते हैं जो नित्य, सत्य, शाश्वत और सार्वकालिक हो[3]।

---

१. हि० इ० फि० ।२।, पृ० ८७

२. अक्षरमिति शब्दात्मतामाह, विशेषेण सामान्यस्य लक्षणात् अपरिणमित्वै वा........।
ब्र० सि०, पृ० १६-१७

३. शां० भा०, १/३/२८

आचार्य मण्डन के अनुसार वेदान्त वाक्यों से परोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति उपासना करे और शम नियमादि का विधिवत् पालन करे। वे कहते हैं कि शब्द प्रमाण के द्वारा तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। तत्त्व दर्शन का अभ्यास तत्त्वदर्शनजन्यसंस्कार को दृढ़ बनाता हुआ अविद्यारूप पूर्व संस्कारों की निवृत्ति करके अपने कार्य को उत्पन्न करता है। इस तरह से शब्द प्रमाण द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी अनादि मिथ्या ज्ञान के अभ्यास से निष्पन्न दृढ़ संस्कारों की निवृत्ति के लिए तत्त्व दर्शन के अभ्यास की आवश्यकता है। इसलिए "आत्मा वारे दृष्टव्यः श्रोव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" वाक्य के द्वारा श्रवण के बाद भी मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है। यही कारण है कि ऋषिगण शम, दम, नियम, तप, तितिक्षा आदि का उपेदश और विधान करते हैं। क्योंकि इन सभी साधनों की आवश्यकता ब्रह्म ज्ञान के लिए है[1]।

आचार्य शङ्कर का कथन और उनकी मान्यता इससे भिन्न है। वे यह निरूपित करते हैं कि तत्त्वमसि आदि वाक्य ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण हैं। इसमें ध्यान की आवश्यकता नहीं है। ध्यान केवल साक्षात्कार के प्रतिबिम्ब की निवृत्ति के लिए ही उपादेय हो सकता है।

---

१. ब्र० सि०, पृ० ३५

आचार्य शङ्कर का यह तर्क है कि जिनका कार्य आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे संचित कर्मों का ही ज्ञान से नाश होता है। जो आरब्ध कर्म हैं वे तब तक नष्ट नहीं होते जब तक शरीर नष्ट नहीं हो जाता। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है। श्री मद्भगवद् गीता में भी जीवन्मुक्त का जो लक्षण किया गया है आचार्य शङ्कर के अभिप्राय को वह प्रकट करता है[1]।

आचार्य मण्डन मिश्र का अभिमत यह है कि स्थितप्रज्ञ ज्ञानी न होकर साधक है। ऐसे साधक को भी तभी अपने कर्मनाश से मुक्ति मिलती है जब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। आचार्य मिश्र यह प्रतिपादित करते हैं कि किसी को ज्ञान होते ही तत्काल मुक्ति मिल जाती है और किसी को कुछ काल तक बिलम्ब होता है। जैसे रज्जुज्ञान होने पर किसी को तत्काल सर्पभय से मुक्ति मिल जाती है और किसी को बाद में कुछ समय तक कम्पनादि होता रहता है। इसलिए ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर सर्वकर्मों का नाश होने पर भी भुज्यमान कर्म के संस्कार के कारण शरीर की स्थिति रहती है। इसी तरह से अविद्या के सम्बन्ध में भी आचार्य मण्डन का अपना दृष्टिकोण है। उनके अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है और जीव को आश्रय बनाकर ही अविद्या प्रवृत्त होती है[2]।

---

१. वही २/५५-७२

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे, अथ सम्पत्स्यते। छा० उ० ६/१४/२

२. ब्र०, सि०, पृ० १०-११

अन्य आचार्य :-

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रवाहित वेदान्त पयस्विनी की धारा को निरन्तरता प्रदान करने वाले अन्य आचार्यों में चित्सुखाचार्य का नाम भी महत्त्वपूर्ण नाम है। इतिहासविदों ने इस आचार्य की महत्त्वपूर्ण कृति तत्त्वप्रदीपिका का उल्लेख किया है और इसे शाङ्कर वेदान्त की एक अनुपम कृति कहा गया है। इस आचार्य का आविर्भाव काल तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है[१]। तत्त्व प्रदीपिका का एक प्रसिद्ध नाम चित्सुखी भी कहा जाता है। इनकी अन्य रचनाओं में शारीरिक भाष्य पर भाव प्रकाशिका और ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्राय प्रकाशिका तथा नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं[२]।

वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त सभी दर्शन इन्द्रियार्थ सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। अद्वैत वेदान्त ही एक मात्र ऐसा दर्शन है जहाँ पर शब्दजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना जाता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है और यह निरूपण किया है कि दशमस्त्वमसि जैसे वाक्यों से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। वे कहते हैं कि ''दशमस्त्वमसि'' वाक्य से विशेष मनोयोग का लाभ होता है और उस मनोयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है[३]।

---

१. हि० इ० फि०, २ , पृ० १४७

२. भा० द० (ब), पृ० ३४४

३. यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहित संस्कार सचिव श्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादि स्वरग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्त्रः करणेनेति। भा०, पृ० ५८

आचार्य वाचस्पति मिश्र के इस दृष्टिकोण का समर्थन चित्सुखाचार्य नहीं करते। वे कहते हैं कि किसी भी प्रत्यक्ष में मन को हेतु नहीं माना जा सकता। उनका यह तर्क है कि यद्यपि मन के द्वारा आत्मा, सुख, दुःख व ज्ञान का प्रत्यक्ष नैयायिक मानते हैं किन्तु आत्मा स्वयं प्रकाश है तथा दुःखादि का प्रत्यक्ष साक्षी से होता है। इसलिये मन में किसी प्रकार के प्रत्यक्ष की हेतुता निश्चित नहीं की जा सकती[१]।

आचार्य वाचस्पति मिश्र जीव का स्वरूप बताते हुये लिखते हैं कि अनादि अविद्या रूप परिच्छेद से परिच्छिन्न चैतन्य जीव कहलाता है। वही जीव अविद्या का आश्रय है। अविद्या और जीव के अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने बीज वृक्ष के अनादि प्रवाह को निर्णायक माना है[२]।

इस पर आचार्य चित्सुखाचार्य का यह कहना है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य इसमें प्रकट है। बीज और वृक्ष के दृष्टान्त में बीज वृक्ष व्यक्तियों का कार्यकारणभाव उपलब्ध होता है किन्तु जीव और अविद्या का कार्यकारणभाव सम्भव नहीं है[३]।

---

१. सुखादीनामिति। एतेनसाक्षात्कार हेतुतया क्लृप्तस्य मनसः सम्भवे शब्दस्य सत्कल्पनामुपपत्तेरिति वाचस्पति मिश्रैरुदीरितमयोदितं मन्तव्यम्।

त० प्र० , पृ० ५३२

२. भा०, पृ० २३५

३. त० प्र०, पृ० ५७१-५७२

पद्मपादाचार्य :-

आचार्य शङ्कर के शिष्यों में पद्मपादाचार्य का नाम भी महत्त्वशील आचार्य के रूप में लिया जाता है। इनका स्थितिकाल ८२० ईसवीय के आसपास स्वीकार किया गया है। इनकी प्रसिद्धि इनके एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पंचपादिका पर आधारित है। यह चतुःसूत्री पर्यन्त ही उपलब्ध है और इसी को आधार बनाकर आगे का इनका चिन्तन पल्लवित हुआ [१]।

आचार्य ने इस ग्रन्थ में अपनी जो दार्शनिक दृष्टि, प्रस्तुत की है उसके अनुसार अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अव्यक्त, तमस्, कारण, लय, निद्रा पर्यायवाची हैं। जिसे अविद्या कहा जाता है वही माया है और वही प्रकृति भी। क्योंकि उसका कोई व्यक्त रूप नहीं है इसलिए उसे अव्यक्त कह सकते हैं और सम्पूर्ण उत्पत्ति का हेतु होने के कारण वह कारण भी है। यह अविद्या ही चैतन्य ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर लेती है तथा सभी प्रकार के कर्तृत्व भोक्तृत्व का आधार बनती है। कूटस्थ ब्रह्म के संवलन से प्रकाश को प्राप्त कर अविद्या ही अहंकार कहलाती है। यही अहंकार शुद्धात्मा को भोक्ता के रूप में प्रस्तुत कर देता है। आचार्य पद्मपादाचार्य ने अविद्या की जड़ात्मिका शक्ति को जगत् का उपादान कारण माना है। अर्थात् माया की जड़ शक्ति जगत् के उत्पाद में कारण है[२]।

---

१. हि० इ० फि० (२), पृ० १०२

२. पं० पा०, पृ० ९८, ९९

आचार्य पद्मपादाचार्य सम्पूर्ण सृष्टि और ब्रह्म में अभेद स्थिति को स्वीकार करते हैं। वे इसके लिये प्रपन्चवाद का सहारा लेते हैं। इसके अनुसार वे यह निरूपित करते हैं कि जिस प्रकार बिम्ब से उत्पन्न होने वाला प्रतिबिम्ब वस्त्वन्तर नहीं है अर्थात् जैसे शरीर से पड़ने वाला प्रतिबिम्ब बिम्ब रूपी शरीर से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार से ब्रह्म रूप बिम्ब से पड़ने वाला प्रतिबिम्ब रूप जगत् कोई अन्य वस्तु नहीं है अपितु इन दोनों में अभेद है। इसके लिए आचार्य ''तत्त्वमसि'' जैसे महावाक्यों का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि यह महावाक्य अपने आप में यह संकेत करता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब अभिन्न है। तत्त्वमसि वाक्य प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव में बिम्ब स्थानीय ब्रह्मरूपता का बोध कराता है[१]।

आचार्य ने तर्क देकर बार-बार यह निरूपण किया है कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कल्प ही है। वह सभी प्रकार का प्रत्यक्ष चिद्रूप है। वह अपना स्वरूप कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त मानता है, बिम्बकल्प ब्रह्मरूपता को नहीं मानता है। इसलिए जब बिम्बरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है[२]।

---

१. पं० पा० , पृ० १०८

२. वही, पृ० १११

नृसिंहाश्रम :-

आचार्य नृसिंहाश्रम का समय १५०० ईसवीय के आस पास माना जाता है। इन्होंने संक्षेप में शारीरिक की अपनी टीका तत्त्वबोधिनी में आचार्य वाचस्पति मिश्र के मतों का परिहार किया है। इनका यह प्रतिपादन है कि अज्ञान के दो प्रकार के अनुभव देखे जाते हैं। एक यह है जिसमें कहा जाता है कि मुझमें अज्ञान है और दूसरा यह जिसमें कहा जाता है कि मैं अपने आपको नहीं जानता। प्रथम अनुभव में अज्ञान का विषय ब्रह्म और आश्रय अहमर्थ जीव होता है। दूसरे अनुभव में जीव ही अज्ञान का आश्रय और विषय प्रतीत होता है। वे कहते हैं यदि प्रथम अनुभव को प्रमाण मानकर ब्रह्म विषयक अज्ञान का आश्रय जीव को माना जाए तो दूसरे अनुभव से जीव ही अज्ञान का आश्रय और विषय प्रतीत होता है।

आचार्य नृसिंहाश्रम उस युग के प्रसिद्ध और आदरणीय वीतरागी थे। इनका उल्लेख वेदान्त सिद्धान्त साराभिज्ञ के रूप में मिलता है। ये पूर्व में नर्मदा के तट पर रहते थे, बाद में अपना जीवन व्यतीत करने के लिये काशी में आकर रहने लगे। भावप्रकाशिका वेदान्त तत्त्वविवेक, तत्त्वदीपन तथा भेदधिक्कार इनकी रचनायें हैं। इनके उपास्य नृसिंह देव थे। इनकी श्रद्धा अप्पय दीक्षित पर विशेष रूप से है। जिससे इन्होंने शैव उपासक होते हुए भी वेदान्त दर्शन की ओर स्वयम् को अभिमुख किया[१]।

---

१. का० पा० प०, पृ० ३७

अप्पय दीक्षित वेदान्त दर्शन के प्रतिष्ठित आचार्य थे और इन्होंने काशीवास किया किन्तु यहाँ रहते हुए इनके द्वारा किन रचनाओं का सृजन हुआ यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। फिर भी इन आचार्य की रचना के रूप में कल्पतरूपरिमल का उल्लेख किया जाता है। इन्होंने भी आचार्य वाचस्पति मिश्र की समालोचना की है। ये यह प्रमाणित करते हैं कि श्रुत्यादि छह प्रमाणों का स्वभाव यह है कि उत्तरोत्तर प्रमाण की प्रतीक्षा या अनुरोध नहीं माना करते। अर्थात् पूर्व प्रमाण निरपेक्ष और उत्तर प्रमाण सापेक्ष माना जाता है। इसी निरपेक्षता और सापेक्षता के आधार पर पूर्व-पूर्व प्रमाण को उत्तरोत्तर प्रमाण से प्रबल माना गया है। सापेक्ष और निरपेक्ष पदार्थों में निरपेक्ष प्रबल और सापेक्ष दुर्बल होता है। किन्तु वाचस्पति मिश्र के वक्तव्य के विपरीत यह होता है कि श्रुति, लिंग प्रकरण की अपेक्षा करते हैं जो कि सिद्धान्त विरुद्ध, मीमांसा न्याय विरुद्ध प्रतीत होता है[1]।

नारायणानन्द सरस्वती :-

आचार्य नारायणानन्द सरस्वती ने शङ्कर के शारीरिक भाष्य पर एक वार्तिक रचना की है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जब यह निरूपण किया कि जीवाश्रित अविद्यापक्ष समाश्रयणीय है तब आचार्य नारायणानन्द सरस्वती ने यह निरूपण किया कि आश्रम और विषय का भेद अन्धकार में नहीं पाया जाता। लोक प्रसिद्ध अन्धकार ही एक ऐसी वस्तु है जिसके दृष्टान्त से अविद्या के स्वरूप और स्वभाव का परिचय दिया जा सकता है।

---

१. क० प०, पृ० ८१४

अन्धकार का स्वभाव ही यह है कि वह जिस कमरे में आश्रित रहता है उसी को आच्छन्न करता है। उसी को विषय बनाता है। ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि अन्धकार दूसरे कमरे में विद्यमान हो और उसका विषय अथवा उससे आवृत दूसरा कमरा हो। अविद्या भी तमोरूप मानी जाती है। अविद्या और अन्धकार दोनों में एक धर्म समान स्वभाव से व्याप्त रहता है, लोक में तेज के आवरक तत्त्व को अन्धकार कहा जाता है। अविद्या भी आवश्यक होती है। इसलिये उसे भी संवृत्ति, आवृत्ति, आवरण आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

आचार्य कहते हैं कि जीव और ब्रह्म का भेद स्वरूपतः संभव नहीं है क्योंकि चैतन्यघन वस्तु एक है। जीव और ब्रह्म का भेद उसमें किसी प्रकार का नहीं है। यदि अविद्या के आश्रय को जीव अथवा अविद्या के विषय को ब्रह्म कहकर उसका भेद किया जाए तो अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होने पर आश्रय और विषय के भेद की सिद्धि होगी और इस सिद्धि के हो जाने पर जीव तथा ब्रह्म का भेद सिद्ध होगा। यदि यह कहा जाएगा कि अनादि भेद के आधार पर जीव ब्रह्म का भेद माना जाता है तो वैसा नहीं कह सकते क्योंकि बिना प्रमाण के परम्परा का अनुकरण उचित नहीं होगा[१]।

---

१. वार्तिक , पृ० १४०

अमलानन्द :-

आचार्य अमलानन्द का स्थितिकाल १३वीं शताब्दी कहा जाता है। इनके विषय में यह कहते हैं कि इन्होंने अनुभवानन्द को अपना दीक्षा गुरु, आनन्दात्मयती को परम गुरु तथा चित्सुखाचार्य के शिष्य सुखप्रकाश को अपना विद्या गुरु माना है[1]। इस आचार्य ने यह संकेत अपनी रचना में किया है कि इनके आश्रय दाता कृष्ण और महादेव थे[2]। इतिहासविदों ने कृष्ण का शासनकाल १२४७-६० माना है और महादेव की शासन अवधि १२६०-७१ मानी है[3]।

आचार्य अमलानन्द जी ने भामती व्याख्या का अनुसरण करते हुए शास्त्रदर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनके अन्य ग्रन्थ वेदान्त कल्पतरु में भामती के गम्भीर भावों का व्याख्यान जिस रूप में किया है, वह अनुपम है।

अखण्डानन्द :-

भामती पर ही "ऋजुप्रकाशिका" नामक एक और व्याख्या है जो अखण्डानन्द यति द्वारा विरचित है। इनके पूर्वाश्रम का नाम रंगनाथ था। इनके पिता का नाम कालहस्तिमज्या और माता का नाम यज्ञाम्बा था[4]। ऋजुप्रकाशिका भामती के गूढ़ाशय को सरल शब्दों में सर्वगम्य और सुबोधरीति से प्रकाशित करती है। इसकी शैली सरल और सरस है जिससे सामान्य जन के लिए सुबोध हो जाती है। इनका आशय यही प्रतीत होता है कि ये भामती के भाव को जन-जन तक पहुँचा दें।

---

१. भा० , पृ० २१८

२. ज्ञातुं न पारं प्रभवन्ति तस्मिन् कृष्णक्षितीशे भुवनैकबीरे।
भ्रात्रा महादेवनृपेण साकं पाति क्षितिं प्रागिव धर्मसूनौ।।
वे०क० अन्तिम श्लोक-७

३. वही, प्रा० श्लोक, १३

४. ऋ० प्र० , श्लोक - ४

भामतीकार ने भेदाग्रह के अध्यास को व्यापक निरूपित कर आत्मा और अनात्मा में चित्त, गढ़, विषयी आदि रूप से भेदाग्रह बताकर भेदाग्रह की निवृत्ति से भेदाग्रह के व्याप्त अध्यास की निवृत्ति अनात्मा और आत्मा में बतलाई है। ऋजुप्रकाशिकाकार ने अहंकारातिरिक्त आत्मा में अहंकार से भेदाग्रह होने से अध्यास बन सकता है, यह प्रश्न उपस्थिति किया है तथा कहा है कि अहंकारातिरिक्त आत्मा की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि अहमित्याकारक प्रत्यक्ष अहंकार को ही आत्मा सिद्ध कर रहा है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से अहंकारातिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार से वे निरूपित करते हैं कि व्यक्तिरूप लिंग न होने से अनुमान प्रमाण का प्रसार भी नहीं हो सकता और आगम को अहंकार के बोध अनुभव के विरुद्ध होने के कारण उपचरितार्थ मानना होगा। इसलिये अहंकारातिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती[१]।

अपने द्वारा की गई इस व्याख्या में आचार्य ने कहीं-कहीं पर "कल्पतरु" का आश्रय लिया है और यह स्वीकार भी किया है कि वे इसका आश्रय लेकर कहीं-कहीं तद् सम्मित व्याख्या कर रहे हैं। फिर भी उनकी शैली अति सरल, सुबोध और भावगम्य है। उन्होंने बालसुलभ शैली से प्रत्येक पद का व्याख्यान करके इस टीका को महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

---

१. यद्यपिवस्तुतोहंकारातिरिक्तआत्मन्यहंकाराद
भेदाग्रहादात्मन्यहंकारतादात्मन्यहंकारतादात्म्याध्यासो युक्तः.................... ।
ऋ० प्र० , पृ० ६७

आनन्दगिरि :-

आचार्य आनन्दगिरि ने १३ वीं शताब्दी में आचार्य शङ्कर के शारीरिक भाष्य पर "निर्णय" नामक व्याख्या लिखी है। यद्यपि आचार्य आनन्द गिरि की यह व्याख्या भी स्वतंत्र व्याख्या है और इसमें उनकी विचार–कुशलता भी दिखाई देती है, फिर भी यह देखा जा सकता है कि वे भामतीकार से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं।

गोविन्दानन्द :-

सोलहवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य गोविन्दानन्द भी आचार्य शङ्कर के शारीरिकभाष्य के व्याख्याकार हैं। इन्होंने आचार्य के भाष्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में जो टीका लिखी है, वह रत्नप्रभा के नाम से व्याख्यात है। आचार्य गोविन्दानन्द भी भामतीकार से प्रभावित हैं और इसे स्वीकार भी करते हैं। अपने प्रारम्भिक श्लोक में ही वे उसी प्रकार के भाव देते हैं जैसे भामतीकार ने दिए हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आचार्य शङ्कर की रचना गंगा के प्रवाह जैसी है जो हम तुच्छों को पवित्र कर देती है[1]। ठीक यही भाव आचार्य गोविन्दानन्द भी देते हैं[2]।

---

१. आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचो स्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपात: पवित्रयति।।
भा०, प्रारम्भिक श्लो, ७

२. श्रीमच्छारीरिकं भाष्यं प्राप्य वाक् शुद्धिमाप्नुयात्।
इति श्रमो मे सफलो गंगारथ्योदकं यथा।
र० प्र० , श्लोक ७

अद्वैत दर्शन के आचार्य तथा उनकी दर्शन दृष्टि :-

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने जीव और ब्रह्म के भेद का विचार करते हुए यह कहा है कि अधिकारी के बिना अनुबन्ध चुतष्टय सम्भव नहीं होते। बिना अनुबन्ध के किसी शास्त्र का आरम्भ नहीं किया जा सकता। अधिकारी साधन चतुष्टयसम्पन्न मुमुक्ष जीव माना गया है किन्तु जीव और ब्रह्म का भेद न होने के कारण गम्यगमकभाव, प्राप्यप्रापकभाव, ज्ञातृत्वभाव, अधिकारी अधिकारभाव नहीं बन सकते हैं। ब्रह्म से भिन्न जब कोई अधिकारी ही नहीं है तब किसके लिये ब्रह्म का उपदेश और विचार सार्थक होगा। उपदेष्टा आचार्य भी ब्रह्म-स्वरूप हैं तब कौन उपदेष्टा, कौन उपदेश और किसके विषय में उपदेश। इसलिए आचार्य गौड़पाद ने इसका समाधान इस रूप में किया है कि पारमार्थिक दृष्टि से न कोई संसार का निरोध है, न उत्पत्ति और न कोई मुक्त है। केवल सांवृतिक दृष्टि से जगत् और उसके व्यवहार का जिस प्रकार निर्वाह किया जाता है उसी प्रकार जीव और ईश्वर के सांवृतिक भेद को मानकर वेदान्त विचार का उपक्रम किया गया है[१]।

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म और जीव के अंश-अंशी भाव का प्रतिपादन किया है। इस प्रतिपादन में यह कहा गया है कि जीव अंश है और ब्रह्म अंशी है। आचार्य के इस भाव की स्थापना का अभिप्राय ब्रह्म के द्वैत रूप का स्थापन करना नहीं है किन्तु कुछ आचार्यों ने उनके इस दृष्टिकोण की आलोचना की है[२]।

---

१. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धों न च साधक: ।
न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।। मा० उ० , २/३२

२. ब्र० सू० शां० २/३/४३-५३

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने यह लिखा है कि जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग, सूर्य और उसकी रश्मियों में जैसा अंशाशिभाव होता है वैसा अंशाशिभाव ब्रह्म और जीव में सम्भव नहीं होता है। तर्क के आधार पर दिखाई देता है कि तन्तु अंश है और पट अंशी। पट का आश्रय तन्तु है पट तन्तुओं के अधीन माना जाता है। उसी प्रकार जीव यदि अंश है और ब्रह्म अंशी तो ब्रह्म का आश्रय जीव और जीव के अधीन ब्रह्म आदि की कल्पनाएँ असंगत हैं। इसलिए जीव और ब्रह्म का अंशाशिभाव केवल औपधिक रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है, मुख्य रूप से इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। यदि अंश और अंशी भाव का प्रतिपादन मुख्य रूप से किया जाएगा तो इच्छा पक्ष में सावयवत्व, अनित्यत्व, सादित्व, सान्तत्व दोष प्रसक्त होगें। इसलिए जिस प्रकार विविध पात्रों में भरे जल में सूर्य और चन्द्र अनेक प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई देते हैं और उनमें अंश तथा अंशी का व्यवहार होता है उसी तरह से ब्रह्म और जीव दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं अपितु दोनों एक ही हैं, इनमें केवल औपचारिक व्यवहार ही अंश और अंशी का होता है[1]।

---

१. न हि तावदनवयवस्येश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्ति अंशाः।
अपि च जीवानां ब्रह्मांशत्वेन तद्गता वेदना ब्रह्मणो भवेत्।।
तथा भेदभेदयोः परस्परविरोधि नोरेकत्रासंभवान्नांशत्वं जीवानाम्।
भा०, पृ० ६२२

तृतीय अध्याय

नागार्जुन तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि

तृतीय अध्याय

(नागार्जुन तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि)

नागार्जुन तथा मध्यममार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद, गति–निषेध, इन्द्रिय परीक्षा स्कन्ध परीक्षा, धातु परीक्षा, संस्कृत परीक्षा, कर्मकारक परीक्षादुःख परीक्षा, संस्कार परीक्षा, स्वभाव परीक्षा, हेतु परीक्षाआत्म परीक्षा, काल परीक्षा, तथागत परीक्षा, बन्ध एवं मोक्ष शून्यता का प्रारम्भिक स्वरूप, शून्यता का सिद्धान्त और पूर्व पक्षनागार्जुन की शून्यता और उसकी परीक्षा आर्यदेव आदि आचार्यों की शून्यता दृष्टि, पंचस्कन्ध खण्डनआत्मा का खण्डन, माध्यमिकों का शून्यवादी स्वरूप और उसकी समीक्षा।

तृतीय अध्याय

(नागार्जुन तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि)

नागार्जुन तथा मध्यम मार्ग

नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के माध्यमिक मत के समर्थक और अनुयायी आचार्य के रूप में विख्यात हैं। बौद्ध सम्प्रदाय और दर्शन के इतिहास में माध्यमिक मत को अत्यधिक प्राचीन और महनीय मत माना गया है। भगवान् तथागत ही इस मत के आदि प्रतिष्ठापक हैं- ऐसी मान्यता भी इस मत के सन्दर्भ में है। इस मत के प्रथम ग्रन्थ के रूप में प्रज्ञापारमिता सूत्र का नाम लिया जाता है, जिस पर आचार्य नागार्जुन ने अपनी व्याख्या लिखी है और जिसे माध्यमिक कारिका के रूप में कहा जाता है। बौद्ध परम्परा में आचार्य की इस कृति की महती प्रतिष्ठा है। माध्यमिक कारिका पर भी आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा नाम की एक व्याख्या प्रस्तुत की है जो माध्यमिक नय को और अधिक स्पष्टता के साथ व्याख्यायित करती है।

माध्यमिक मत के सन्दर्भ में कहा जाता है कि जो सकल मध्यमक शास्त्र का अभिधेयार्थ है उससे अभिन्न स्वभाव परम गुरु तथागत का है और वही प्रतीत्य समुत्पाद है। इसलिए आचार्य नागार्जुन शास्त्र के आरम्भ में अनिरोधादि अष्ट विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्य समुत्पाद को प्रकाशित करते हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक दर्शन के प्रतिपाद्य अभिधेयार्थ को बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपित किया है और लिखा है कि निरोध क्षण भंगता है, किन्तु तत्त्व में क्षण भंगता नहीं है इसलिए वह अनिरोध है। उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है, तत्त्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है अतः वह अनुत्पाद है। उच्छेद सन्तान प्रबन्धन का विच्छेद है किन्तु तत्त्व में विच्छेद नहीं है इसलिए वह अनुच्छेद है। सार्वकालिक स्थाणुता शाश्वतिकता है किन्तु तत्त्व में वह नहीं है। तत्त्व में न भिन्नार्थता है न अभिन्नार्थता है वह अनेकार्थ और अनानार्थ है।

तत्त्व में आगम निर्गम नहीं है अतः वह अनागम और अनिर्गम है। इन सभी विशेषणों से निर्वाण की सर्व प्रपंचोपशमता एवं उसका शिवत्व बोधित होता है। यह मध्यम मार्ग का प्रतिपाद्य एवं प्रयोजन है[१]।

अन्यवादी आचार्य पदार्थों की उत्पत्ति स्वतः, परतः और उभयतः रूप से स्वीकार करते हैं[२]। किन्तु आचार्य नागार्जुन पदार्थों की उत्पत्ति किसी तरह से नहीं मानते हैं। माध्यमिक आचार्यों के मत से दैशिक अथवा कालिक आधार पर किसी भी सम्बन्ध से न कोई वस्तु स्वतः उत्पन्न होती है, न परतः उत्पन्न होती है और न उभयतः उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में माध्यमिक आचार्यों का यह मत है कि वस्तु का यदि स्वतः उत्पाद मानेगें तो उत्पन्न की ही पुनः उत्पत्ति माननी होगी। इस तरह स्वतः उत्पाद के खण्डन से परतः उत्पाद स्वयम् ही खण्डित हो जाएगा[३]। परतः अनुत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका यह कथन है कि भावों की परतः उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि पर का अभाव है। पदार्थों का स्वभाव प्रत्यादि में नहीं है।

१- अवयवार्थस्तु विभज्यते। तत्र निरुद्विर्निरोधः। क्षणभंगोनिरोध इत्युच्यते। उत्पादनमुत्पादः। आत्मभावोन्मज्जनमित्यर्थः। उच्छित्तिरुच्छेदः प्रबन्धविच्छि-त्तिरित्यर्थः। शाश्वतो नित्यः। सर्वकाले स्थाणुरित्यर्थः। एकश्चासावर्थश्चेत्येकार्थो भिन्नार्थः। न पृथगित्यर्थः। नानार्थोभिन्नार्थः। पृथगित्यर्थः। आगतिरागमः।
\- - - - - - -
तत्र अनिरोधाष्ट विशेषणविशिष्टः प्रतीतत्यसमुत्पादः शास्त्राभिद्येयार्थः।
प्र० प०, पृ० ४

२. चतुर्भिश्चित्तचैता हि समापत्तिद्वयं त्रिभिः।
द्वाभ्यामन्ये तु जायन्ते नेश्वरादेः क्रमादिभिः।।
स्वतोऽन्ये कारणं हेतु सहभूयः मिथः फलाः।
भूतवच्चित्तचैत्तानुवर्तिलक्षणलक्ष्यवत् ।। अ०को० २/५०, ६४

३. न स्वतोनापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।। म०शा०, पृ० १
\- - - - -
नैव स्वत उत्पन्ना इत्यवधार्यमाणे परत उत्पन्न इत्यनिष्टं प्राप्नोति। न प्राप्नोति, प्रसज्यप्रतिषेधस्य विक्षितत्वाद्, परतोऽप्युत्पादस्य प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। प्र० प०, पृ० ७

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध यह कहते हैं कि इससे उनका मत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत होता है। अट्ठकथाओं के माध्यम से प्रतीत्यसमुत्पाद की धर्मगम्भीरता, देशनागम्भीरता, प्रतिवेधगम्भीरता की व्याख्या की जाती है। त्रिपिटक में कहा गया है कि अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञानप्रत्यय से नाम रूपादि का उत्पाद होता है, इस प्रसंग में अट्ठकथा में कहा गया है कि जो ज्ञान का अनिदर्शन है, वही अविद्या है। इसके अभिसङ्खरण, आयूहन, सरागता, विराग, संस्कार आदि अर्थ हैं। इसी रूप से जो प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या की गयी है उसका गम्भीर अर्थ प्रकट होता है[१]।

प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जब कोई भगवान् बुद्ध से ''यह जीव और यह शरीर'' इस विषय पर कुछ प्रश्न करता था तो वे चुप हो जाते थे। वे कहते थे कि ज्ञान के अभाव से ही इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं। अट्ठकथा इसका स्पष्टीकरण देती हुई कहती है कि जरामरण का प्रत्यय यह शरीर है और इस शरीर का प्रत्यय जरामरण है। इसी तरह जाति प्रत्यय से जरामरण और जरामरण से जाति प्रत्यय होता है। इसलिए इन अविद्यादि प्रत्ययों से ही समस्त जाति-उत्पत्ति और मरण की क्रमबद्धता दिखाई देती है[२]।

माध्यमिक नय में इसका जो स्वरूप विवेचित किया गया है उसके अनुसार प्रतीत्य पद में ''प्रति'' ''इ'' का अर्थ प्राप्ति अर्थात् अपेक्षा है। यदि इसका ''ल्यप्'' प्रत्यय के साथ योग कर दिया जाए तो इसका अर्थ हो जाएगा-''प्राप्तकर'' अपेक्षा कर। समुत्पाद शब्द सम्-उत् पूर्वक पद् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ प्रादुर्भाव है।

१- अविज्जायपन अनाणअदस्सनसच्चापरिवेधट्ठो-गम्भीरो, संखारानां....
अयं परिवेधगम्भीरताति वेदितब्बा। सु०वि० (२), पृ० १९०

२. सु० वि० (२), पृ० १९३

इस तरह से इन दोनों के मिलित अर्थ का अभिप्राय हुआ- हेतु प्रत्यय की अपेक्षा कर भावों का उत्पाद या प्रादुर्भाव[1]।

जो लोग प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ में इण् को गत्यर्थक अथवा विनाशार्थक मानते हैं उसे आचार्य चन्द्रकीर्ति स्वीकार नहीं करते। आचार्य का कहना यह है कि यद्यपि भगवान् के उपदेश में कहीं-कहीं प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ वीप्सार्थ जैसा प्रतीत होता है किन्तु जहाँ देशना में साक्षात् रूप में अर्थ-विशेष अंगीकृत है और उस अर्थ का विज्ञान एक इन्द्रिय से होना बताया गया है, वहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का वीप्सार्थ असंगत होगा। जहाँ कोई अर्थ विशेष अंगीकृत न हो उस सामान्य स्थल में प्रतीत्य का अर्थ "प्राप्त कर" होगा। जहाँ अर्थ विशेष अंगीकृत है, वहाँ भी चक्षुः प्रतीत्य "चक्षुप्राप्तकर" अर्थ होगा[2]।

कुछ अन्य आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इदं प्रत्ययता मात्र करते हैं और "अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादात् इदमुत्पद्यते" इस वचन का प्रमाण उपस्थित करते हैं। यह अयुक्त है। क्योंकि इसमें प्रतीत्य और समुत्पाद दोनों शब्दों के अर्थ विशेष का अभिधान नहीं है। चन्द्रकीर्ति का यह कथन है कि प्रतीत्य समुत्पाद एक रूढ़ि अर्थ नहीं दे सकता और न इससे एक रूढ़ि अर्थ लेना चाहिए। उनका कहना है कि उल्लिखित वचनों में अवयवार्थों को लेकर व्याख्या है। "इसके होने पर यह होता है" इस वाक्य में भी सप्तमी का अर्थ प्राप्ति या अपेक्षा है[3]।

१- प्रतीत्य शब्दोऽत्र ल्यबन्तः प्राप्तावेपक्षायां वर्तते। ततश्च हेतु प्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। प्र०प०,प्र०४

२- इह तु"चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्" इत्येवमादौ विषये साक्षादङीकृतार्थविशेषेऽपि सम्भवति, चक्षुः प्रतीत्यशब्दे सम्भवति-प्राप्य सम्भवः,प्रतीत्य समुत्पाद इति। अंगीकृतार्थविशेषोऽपि सम्भवति, चक्षुः प्रतीत्य, चक्षुः प्राप्य, चक्षुरूपं चापेक्ष्यति व्याख्यानात्। प्र० प० , पृ० ४

३. अत्रापि रूढ़शब्दं प्रतीत्यसमुत्पादशब्दमभ्युपेत्य अरण्येतिलकादिवदेवमुच्यते, तदपि नोपपन्नम्, अवयवार्थानुगतस्यैव प्रतीत्यसमुत्पादस्य आचार्येण "ततप्राप्यतदुत्पन्नं नोत्पन्नं तत्स्वभावतः" इत्यभ्युपगमात्। वही,पृ.५

गति-निषेधः-

मध्यमकशास्त्र अभिधेयार्थ आठ विशेषणों से युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना है। किन्तु भावों का अध्वगत आगम-निर्गम लोक में सिद्ध है इसलिए भावों की निःस्वभावता सिद्ध करने के लिए गति-निषेध का विवेचन माध्यमिक आचार्य करते हैं। वे कहते हैं कि गमन क्रिया की सिद्धि गत, अगत अथवा गम्यमान अध्व में की जा सकती है किन्तु विचार कर देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि गमन क्रिया का सम्बन्ध इन तीनों के साथ नहीं किया जा सकता है। गत का गमन इसलिए असिद्ध है क्योंकि अध्व गमन क्रिया से उपरत है और वर्तमानकालिक क्रिया से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। अगत अध्व में गमन क्रिया इसलिए सिद्ध नहीं होगी क्योंकि जिसमें गमन क्रिया अनुत्पन्न है वह अगत अध्व है। अगत अनागत स्वरूप है। अनागत के साथ वर्तमान गमन-क्रिया का अत्यन्त भेद है। इसी तरह से गम्यमान का भी गमन नहीं बनेगा। गन्ता से जिस देश को अतिक्रान्त किया है वह गत देश है जिसे अतिक्रान्त नहीं किया है, वह अगत देश है। इन दो के अतिरिक्त कौन सा तीसरा देश है जिसे गम्यमान कहा जाए[१]।

आचार्य के इस विवेचन पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार एक कर्ता में बोलना और देखना अनेक क्रियाएँ देखी जाती हैं उसी तरह एक गंता में क्रिया द्वय मान लेने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु आचार्य नागार्जुन और आचार्य चन्द्रकीर्ति दोनों का यह अभिमत है कि कारक शक्ति है, द्रव्य नहीं, यद्यपि द्रव्य के एक होने पर भी क्रिया भेद से शक्ति का भेद होता है किंतु एक समान दो क्रियाओं का कारक एकदेशिक नहीं देखा जाता। आचार्य गमन क्रिया का निषेध करने के साथ-साथ गन्ता का भी निषेध करते हैं।

१- गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते।। म०शा०,पृ० २

इसमें वे तर्क देते हैं कि जब गन्ता के बिना गमन असत् है तब गमन के असत् होने पर गन्ता की सिद्धि कैसे की जा सकती है। गन्ता की स्वरूप-निष्पत्ति ही तब होती है जब गमन क्रिया का अस्तित्व हो। इसलिए गन्ता का गमन यह ठीक नहीं है[1]।

इन्द्रिय परीक्षाः-

वैभाषिक दर्शन की दृष्टि से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के नाम से द्वादश आयतनों का आख्यान किया गया है। इसी के साथ इन्होंने अष्टादश धातुओं का भी उल्लेख किया है। इनमें काय, वाक्, कर्म, वेदना, संज्ञा, संस्कार, पंच स्कन्ध और संस्कृत धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। असंस्कृत धर्मों के रूप में प्रति संख्या निरोध, अप्रति संख्या निरोध और आकाश का भी कथन किया गया है[2]।

माध्यमिक आचार्य इन्द्रियों और उनके विषयों का पूरी तरह से खण्डन करते हैं तथा कहते हैं कि भावरूप से न तो इन्द्रियों का कोई अस्तित्व है और न ही उनके विषयों का कोई अस्तित्व है। आचार्य का यह कहना है कि चक्षु रूप को नहीं देखता है। इसके लिए वे तर्क यह देते हैं कि जब चक्षु आत्मरूप को नहीं देख पाता तो वह श्रोत्रादि के समान नीलादि को भी नहीं देखेगा।

१- गन्तारं चेत् तिरस्कृत्य गमनं नोपपद्यते।
गमने सति गन्तार्थं कुत एव भविष्यति।।
गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति।
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च..........................।। म० शा०, पृ० २

गन्तारमन्तरेण निराश्रयं गमनमसदित्युक्तम्, ततश्च गन्तारं चेत्तिरस्कृत्य प्रत्याख्याय गमनं नास्ति, असति गमने कुतो निर्हेतुको गन्ता।अतो नास्ति गमनम्। प्र० प० , पृ० ३७

२. अ० घो०, पृ० ५२

राश्यायद्वारगोत्रार्था: स्कन्धायतनधातव:।
मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् तिस्त्र: स्कन्धादि देशना:।। अ०को० १/२०

योग रूप्यानुकूल्यादेद्वादिशायतनो मुनि:
बुद्धयादेकत्वधीहान्यै धातूंश्चाष्टादशोक्तावान्।। अ०वि०, पृ० ६

अग्नि "पर" को ही दग्ध करता है "स्व" को नहीं। इस दृष्टान्त के अनुसार दर्शन "पर" को ही देखेगा "स्व" को नहीं[1]।

इस प्रकरण में जब यह कहा जाता है कि जो देखता है उसे दर्शन नहीं अपितु, जिससे देखा जाता है उसे दर्शन कहेंगे। आचार्य कहते हैं कि इस तर्क से तो दर्शन के साथ-साथ दृष्टा की भी असिद्धि होगी। दृष्टा जब स्वयम् का भी दृष्टा नहीं हो सकेगा तो भला वह अन्य का दृष्टा कैसे हो सकेगा। इसी प्रकार न कोई दृष्टव्य अर्थात् विषय है और न कोई दर्शन अर्थात् करण है। इसी के साथ यह प्रश्न भी है कि दृष्टा दर्शन सापेक्ष है अथवा दर्शन निरपेक्ष। यदि वह दर्शन सापेक्ष है तो दर्शन का तिरस्कार नहीं करेगा और यदि दर्शन निरपेक्ष है तो उसकी सत्ता का ही कोई अर्थ नहीं है। इसी तरह से श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन मन तथा श्रोत्र आदि का भी निरास होता है[2]।

स्कन्ध परीक्षा :-

भगवान् बुद्ध अव्याकृत प्रश्नों को छोड़कर जब दुःख की तथ्यात्मक व्याख्या करते हैं तब वे यह निरूपित करते हैं कि यह संसार दुःखमय है और यहाँ दुःख ही एक मात्र सत्य है। यहाँ जाति,जरा-मरण, अप्रियसंयोग, प्रिय वियोग आदि दुःख हैं। वे इस जगत् के उपादान के रूप में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का स्वरूप बताते हैं और यह कहते हैं कि यही पंच स्कन्ध हैं और यही दुःख स्वरूप हैं[3]।

१- स्वात्मानं दर्शनं हि तत् तमेव य पश्यति।
न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत्परान् ।। म. शा.,पृ. ३

\- \- \- \-

यथा गतं न गम्यते नागतं न गम्यमानं एवमग्निनापि दग्धं न दह्यते नादग्धं दह्यत इत्यादिना समं वाच्यम्। यथा च न गतं नागतं न गम्यमानं गम्यते। प्र. प., पृ. ४५

२. व्याख्यानं श्रवणं घ्राणं रसनं स्पर्शनं मनः।
दर्शनेनैव जानीयाच्छोतृश्रोतव्यकादि च ।। प्र०प०, पृ० ४८

३. कतमे च, भिक्खवे संखित्तेन पन्चुपादानक्खन्धा दुक्खं, से यदिदं उपादानक्खन्धो वेदनुपादानक्खन्धो सञ्ञुपादानक्खन्धो खङ्खारूपादानक्खन्धो तृष्णोपादानक्खन्धते इमे वुच्चन्ति, भिक्खवे, सङ्खित्तेन पन्चुपादानक्खन्धा।
दी.नि. २(क), पृ० २२९-२३०, म०व०(क),पृ०१३

माध्यमिक आचार्य रूपादि स्कन्धों का निषेध करते हैं और यह तर्क देते हैं कि रूप भौतिक होते हैं। चार महाभूत उनके कारण हैं। जैसे घट से पट भिन्न है वैसे भूतों से पृथक् भौतिक रूप नहीं हैं। इसलिए भूत भौतिकों से पृथक् नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि महाभूतों के अतिरिक्त भौतिक रूप है तो उन भौतिकों के कारण भूत नहीं हैं[1]।

यदि रूप को कारण मानें तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि सत् रूप का कारण है अथवा असत् रूप का कारण है। क्योंकि रूप की विद्यमानता में उसके कारण का कोई प्रयोजन नहीं है और अविद्यमानता में कारण व्यर्थ है। इसलिए इस विवेचन से कारण का रूप व्यावृत हुआ। उसी प्रकार तदपेक्ष कार्यरूप भी व्यावृत होगा। उभयरूप की व्यावृत्ति से रूपगत सप्रतिघ-अप्रतिघ, सनिदर्शन-अनिदर्शन, अतीत-अनागत सभी विकल्प निरस्त होगें।

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होगा कि रूप कारण के सदृश कार्य उत्पन्न करता है अथवा असदृश।[2] उभयथा अनुपपन्न है। इस तरह रूप स्कन्ध के ही समान वेदना, चित्त, संज्ञा, संस्कारों का भी अभाव है। माध्यमिक यह कहते हैं कि जिस प्रकार एक धर्म की शून्यता प्रतिपादित है उसी तरह से सर्वधर्म की शून्यता भी स्वीकृत है।[3]

१- रूपकारणनिर्मुक्तं न रूपमुपलभ्यते।
रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम्।। म०शा०, पृ० ४

२. रूपे सत्येव रूपस्य कारणं नोपपद्यते ।
रूपे सत्येव रूपस्य कारणं नोपद्यते।। म०शा०, पृ० ४

\- \- \- \-

सति वा संविद्यमाने रूपे किं रूपकारणेन न प्रयोजनम्। असति असंविद्यमाने रूपे किं रूपकारणेन प्रयोजनम्। कस्य वा तत्कारणं परिकल्पयते। तस्मादसत्यपि रूपे रूपकारणं नोपपद्यते।
प्र०प०, पृ० ५१

३. वेदनाचित्तसंज्ञानां संस्कारणां च सर्वश:।
सर्वेषामेव भावानां रूपेणैव सम: क्रम: ।। म० शा०, पृ०४

धातु परीक्षाः-

माध्यमिक आचार्य जब धातुओं की परीक्षा करते हैं तो कहते हैं कि धातुओं का कोई लक्षण नहीं बनता है। धातुएँ छह मानी गई हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा विज्ञान। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिए गए हैं। जैसे आकाश का लक्षण अनावरण अथवा अनवरोध है। किन्तु लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध दुरूपपाद है। यदि लक्ष्य और लक्षण भिन्न हैं तो पृथिवी और काठिन्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध होगें। यदि वे अभिन्न हैं तो लक्षण निराश्रय अथवा लक्ष्य अलक्ष्य हो जावेंगे। यदि लक्ष्य लक्षण रहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति न होगी। यदि लक्ष्य लक्षण सहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति अनावश्यक होगी[१]।

यदि यह कहा जाए कि लक्ष्य लक्षण नहीं अपितु आकाश है तो यह कहना भी उपयुक्त नहीं है। लक्ष्य लक्षण विनिर्मुक्त कोई भाव नहीं होता[२]। इसी प्रकार अन्य धातुएँ भी अभाव स्वरूपा हैं।

संस्कृत परीक्षाः-

बौद्धनय में स्वलक्षणता अथवा स्वभावलक्षणता को धर्म लक्षण कहा गया है। इसी के अनुसार स्कन्ध, आयतन, धातु, चित्त, चैतसादिकों को संस्कृत धर्म के रूप में कहा जाता है।

---

१. लक्षणात् पूर्वमलक्षणो भावो नास्तीत्युक्तम्। ततश्च असति असंविद्यमाने अलक्षणे लक्षणरहिते भावे कुत्र इदानीं लक्षणं प्रवर्ततामिति नास्ति लक्षणप्रवृत्तिः।

– – – –

तत्र अलक्षणे खरविषाणवन्न लक्षणप्रवृत्तिः। सलक्षणेऽपि भावेन लक्षणप्रवृत्तिरूपोपद्यते प्रयोजनाभावात्। किं हि लक्षणवतः प्रसिद्धस्य भावस्य पुनर्लक्षणकृत्यं स्यात्। इत्यनवस्थस्य, अतिप्रसङ्गश्चैव स्यात्।

प्र० प०, पृ० ५३

२. तस्मान्न भावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणम्।
आकाशमाकाशसमा धातवः पन्च येऽपरे।। म० शा०, पृ० ५

क्योंकि संस्कृतधर्मों का संस्कृतत्व जाति, स्थिति और जरा से सिद्ध है। असंस्कृत धर्मों का जाति, स्थिति और जरा सिद्ध नहीं होता[1]।

माध्यमिक आचार्य यह कहते हैं कि उत्पाद, व्यय तथा स्थितान्यथात्व संस्कृत लक्षण है किन्तु इन लक्षणों के पृथक्-पृथक् प्रयोग से संस्कृतत्व निरूपित नहीं हो सकता और न ही इनका एक साथ प्रयोग किया जा सकता है। यदि उत्पादि आदि में उत्पाद आदि लक्षण प्रयुक्त किए जाएँ तो अनवस्था दोष होगा और यदि ऐसा नहीं किया जाए तो वे असंस्कृत हो जायेंगे। उत्पाद आदि विरुद्ध लक्षणों की एक ही वस्तु में प्रवृत्ति भी दुर्घट है। उत्पाद आदि पृथक्-पृथक् भी अनुपपन्न हैं। वस्तुतः उत्पाद, स्थिति एवं भंग माया स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर के समान हैं[2]।

कर्मकारक परीक्षा:-

माध्यमिकेतर आचार्य संस्कृत धर्मों का निरूपण करते हैं कि तथागत ने पुण्य, अपुण्य, कर्म और कर्मों के फल आदि का उपदेश किया है। इसलिए ये व्यवस्थाएँ सत् हैं। माध्यमिक कर्म का और उसके फल का निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि यह स्पष्ट करना होगा कि कर्ता सद्भूत है अथवा असद्भूत अथवा वह सदसद्भूत है। इसी तरह से यह भी निरूपित करना होगा कि कर्म सत् है, असत् है अथवा सदसत् है।

१- असंस्कृतधर्माणां न सन्ति जातिस्थितिजरानित्यता।
ज्ञा० प्र० (१), पृ० ४४-४५, स्फु०, पृ० २२-२४

२. यदि उत्पादस्थितिभंगानामन्यदुत्पादादिकं संस्कृतलक्षणमिष्यते, तदा तेषामप्यन्यत् इत्यपर्यवसान दोषः स्यात्। सति च अपर्यवसानदोषे किं पूर्व स्याद् यत् उत्तरकालमपरं भवेदिति व्यवस्थाभावादसम्भव एव उत्पादादीनामित्यभि प्रा: ।
प्र० प०, पृ० ६२

सद्भूत कारक में क्रिया युक्त सद्भूत कर्म का कर्तृत्व नहीं बन सकता। और क्रिया से रहित असद्भूत कारक क्रिया रहित कर्म का कर्ता नहीं हो सकता। किन्तु जिस क्रिया से उसका कारकत्व व्यपदिष्ट है उससे अतिरिक्त दूसरी क्रिया नहीं है जिससे वह कर्म करे। इस प्रकार क्रिया के अभाव में जब कारक कर्म न करेगा तब कर्म कारक निरपेक्ष होगा जो असम्भव है। इसलिए सद्भूत कारक कर्म नहीं कर सकता ।

इसी तरह असद्भूत कर्म को असद्भूत कारक नहीं कर सकता। क्योंकि क्रिया से रहित कारक और कर्म निर्हेतुक होंगे[1]।

दुःख परीक्षा :-

भगवान् बुद्ध की विचार परम्परा की यह एक नवीनता है कि वे नित्यानित्य विषयों के सन्दर्भ में विचार न कर यह कहते हैं कि मनुष्य के लिए इन प्रश्नों का कोई उपयोग नहीं है कि संसार नित्य है अथवा अनित्य है। इस जगत् और जीव में कोई नित्य आत्मा है अथवा नहीं है। वे कहते हैं कि यह संसार दुःखमय है और इस दुःख से सबको कैसे मुक्ति मिले - यह विचार करना चाहिए। पोट्ठपाद के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् ही विचारणीय है[2]।

---

१. सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्म च स्यादकर्तृकम्।
सद्भूतस्य क्रिया नास्ति कर्ता च स्यादकर्मकः।।

\- - - - -

नासद्भूतोपि सद्भूतं सदसद्भूतमेव वा।
करोति कारकः कर्म पूर्वोक्तैरेव हेतुभिः।। म० शा०,पृ० ७७,८०

२. किं पन, भन्ते भगवा व्याकतंति। इदं दुःखं तिखो,पोट्ठपाद, मया व्याकतं, अयं दुःख समुदयोति खो, पोट्ठपाद मया व्याकतंति।
दी०नि०(१)(क),पृ० १५७

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि भगवान् कहते हैं कि न मैं आगत कहता हूँ, न मैं गत कहता हूँ, न मैं स्थिति कहता हूँ और न मैं च्युति कहता हूँ। न मैं उत्पत्ति कहता हूँ और न मैं अनुत्पत्ति कहता हूँ। मैं केवल इतना कहता हूँ कि दुःख का अन्वेषण करना चाहिए- एसेवन्तो दुक्खस्साति[1]।

भगवान् बुद्ध ज़ब प्रतीत्य समुत्पाद का निरूपण करते हैं तब भी वे अन्त में इस सब को दुःख समुदय कहते हैं। वे कहते हैं कि अविद्या प्रत्यय से संस्कार, संस्कार प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान प्रत्यय से नामरूप, नामरूप प्रत्यय से सडायतन, सडायतन प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श प्रत्यय से वेदना, वेदना प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा प्रत्यय से उपादान, उपादान प्रत्यय से भव, भव प्रत्यय से जाति, जाति प्रत्यय से जरामरण, जरामरण से शोकपरिदेव दुक्खस्कन्धों का समुदय होता है[2]। यही कारण है कि एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि यह संसार जन्म-मरण की ज्वाला में नित्यरूप से जल रहा है। इसमें आनन्द और हास का स्थान भला कहाँ है[3]।

---

१. तत्राह, भिक्खवे, नैव आगतं वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्तिं, अनुप्पत्तिं अप्पवन्तं अनारम्भणमेवेतं। वही, पृ० १६२

२. अविज्जापच्चया भिक्खवे सङ्खारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सडायतनं, सडायतन पच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हा पच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जाति पच्चया जरामरणं सोकपरिदेव दुक्खखन्धस्स समुदयो होति।
सं. नि. २(क), पृ. ४, म.व.(क०),पृ. ३, वि.(क),पृ. १७३

३. को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ।।
पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसंकायं यस्स नत्थि ध्रुवं ठिति।।
खु०नि० १ (क०), पृ० ३१

माध्यमिक आचार्य अन्य सत्ताओं का निरास कथन करने के साथ-साथ दुःख की सत्ता का भी निरास करते हैं। वे कहते हैं कि यदि दुःख की सत्ता मानी जाएगी तो उसका स्वयं कृतित्व अथवा अहेतुकत्व बताना होगा। यदि मरणान्तिक सम्बन्धों की अपेक्षा करके औपपत्तिक स्कन्धों का उत्पाद मानें तो स्वयंकृत सिद्ध नहीं होगा। मरणान्तिक स्कन्धों से औपपत्तिक स्कन्धों को अतिरिक्त मानने पर उसका परकृतित्व सिद्ध होता है किन्तु यह असम्भव है[1]।

इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि यदि दुःख स्वकृत है तो वृत्ति विरोध होगा क्योंकि स्वात्मा में ही करणत्व तथा कर्तृत्व मानना पड़ेगा। परकृत दुःख भी नहीं मान सकते क्योंकि पर से स्व निष्पन्न नहीं है। जो स्व से निष्पन्न नहीं है वह अविद्यमान स्वभाव है। स्वयम् अविद्यमान स्वभाव दूसरे को क्या सम्पन्न करेगा[2]। इस रूप में उभयकृत दुःख भी सिद्ध नहीं होता है।

संस्कार परीक्षा :-

कहते हैं कि भगवान् ने सभी संस्कारों को मृषा और मोषधर्मा कहा है। अलातचक्रवत् समस्त संस्कारों का आख्यान वितथ है। केवल निर्वाण मोषधर्मा नहीं है। इसके अतिरिक्त सर्वधर्म निःस्वभाव होने से शून्य है।

यहाँ पर यह शंका की जाती है कि यदि मोष धर्मा होने से सभी संस्कार मृषा हैं तो यह कहना भी कि कोई पदार्थ नहीं है, मृषा दृष्टि होगी।

---

१. स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम्।
दुःखमित्येकं इच्छन्ति तच्च कार्यं न युज्जते।।
स्वयं कृतं यदि भवेत्-प्रतीत्य न ततो भवेत्।
स्कन्धानिमानमी स्कन्धाः सम्भन्ति प्रतीत्य हि।। म.शा.,पृ. ११

२. यस्मादिमान् मरणान्तिकान् स्कन्धान् प्रतीत्य इमे औपपत्यांशिकाः स्कन्धाः उत्पद्यन्ते, तस्मात् स्वयम् कृतं दुःखमिति नोपपद्यते।

\- - - - -

यदा अमीभ्यो मरणान्तिकेभ्यः स्कन्धेभ्यः इमे औपपत्यांशिकाः स्कन्धाः अन्ये स्यु, एभ्यो वा औपपत्यांशिकेभ्यः अमी मरणान्तिका स्कन्धाः परे स्युः स्यात्तदानीं परकृतं दुःखम्। अतः परकृतं दुःखमपि न सम्भवति।
प्र० प०, पृ० १००-१०१

इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि इसमें हमने क्या मोषण किया। यदि कोई सत् पदार्थ होता और हमारी दृष्टि अभाव दृष्टि होती तो उसे मिथ्या दृष्टि कहा जा सकता था[१]।

यदि यह कहा जाए कि शून्यता के लिए माध्यमिकों को भावों को सस्वभावी मानना होगा, तो ठीक नहीं है। यदि शून्यता का कोई धर्म होता तो उसके आश्रय के लिए भावों की सस्वभावता भी होती किन्तु ऐसा नहीं है। हमारे मत से शून्यता सभी धर्मों का सामान्य लक्षण है इसलिए कोई अशून्य धर्म नहीं है[२]।

स्वभाव परीक्षा :-

स्वभाववादियों के अनुसार लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्ति निःस्वभावता एवम् परमार्थ निःस्वभावता सभी धर्मों की कही गई है और यह कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने इसका जो आख्यान किया है, वह नेयार्थ है। विज्ञानवादी यह कहते हैं कि संसार तथा निर्वाण में जो कुछ भी है वह समस्त लक्षणों में संग्रहीत है। इनमें से परिकल्पित लक्षण लक्षणनिःस्वभाव है क्योंकि वह केवल नाम और स्वभाव द्वारा संकेतित है। वह स्वलक्षण द्वारा संकेतित नहीं है। परिकल्पित लक्षण विशेष्य है और लक्षण निःस्वभावता उसका विशेषण है। आकाश, वाह्यार्थादि परिकल्पित लक्षण के उदाहरण हैं। परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव होता है क्योंकि वह अन्य हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। घट, पट, स्तम्भादि परतन्त्र लक्षण हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुएं परतन्त्रलक्षण होती हैं।

---

१. यद्येनं मोषधर्मकत्वेन सर्वसंस्काराणां मृषात्वं प्रतिपादितं भवता, नन्वेवंसति "नसन्ति सर्वेभावाः" इति सर्वपदार्थापवादिनी मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्। उच्यते, सत्यं मोषधर्मकाः सर्वसंस्काराः येऽषापि भवन्तं मुष्णन्तिं।
 – – – –
 यदा अस्माभिः "तन्मृषामोषधर्मकम्" इत्युक्तम् तदा किं तत्र मुष्यते! किं तत्राभावो भवन्ति। कश्चिद्यदि पदार्थोऽभविष्यत् स्यात्तस्यापवादादभावदर्शनान्मिथ्यादृष्टिः। प्र०प०,पृ०१०४

२. शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःस्वभावं जिनैः।
 येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे।। म०शा०,पृ०१२

घट, पट आदि वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं अतः वे परतन्त्र लक्षण होती हैं। हेतु प्रत्ययों की बिना अपेक्षा किए वे स्वतः उत्पन्न नहीं होतीं अतएव उत्पत्ति निःस्वभाव कहलाती है। उत्पत्ति निःस्वभाव का यह अभिप्राय नहीं है कि जिसकी उत्पत्ति न हो। विज्ञानवादी घट, पट आदि की स्वतः उत्पत्ति नहीं मानते[1]।

माध्यमिक आचार्य स्वभाववादियों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि संस्कार और अंकुरादि यदि सस्वभाव हैं तो इनके लिए हेतु-प्रत्यय व्यर्थ हैं जिस प्रकार वर्तमान संस्कारदि की पुनः निष्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादान व्यर्थ है उसी प्रकार समस्त भावों की विद्यमानता हेतु प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ सिद्ध करती है। अतएव हेतु प्रत्ययों के द्वारा भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। यदि यह कहा जाए कि उत्पाद से पूर्व स्वभाव अविद्यमान है हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा उत्पाद होता है तो ऐसी स्थिति में स्वभाव कृतक होगा। किन्तु जो स्वभाव है वह कृतक कैसे होगा[2]।

अग्नि की उष्णता के स्वभाव के संसार में प्रसिद्ध होने के सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि उष्णता स्वभाव नहीं है। वह स्वभाव को ही स्वभावत्वेन प्रतिपन्न करता है और उसी के अनुसार आख्यान करता है कि उष्णता अग्नि का स्वलक्षण है। यदि प्रज्ञाचक्षु वाले आर्य लोग विचार करें, तब ज्ञात होगा कि सस्वभावता की उपलब्धि नहीं है[3]।

---

१. यत्ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वान् कल्पनामात्र भावतः।।
तस्य ख्यातुर्यथाख्यानं या सदाविद्यमानता।
ज्ञेयः स परिनिष्पन्न स्वभावोऽन्यथात्वतः ।। त्रि०नि०का० २,३

२. नैवोत्पादात्पूर्वं कस्यच्चिद्भावस्य स्वभावोऽस्ति, यतोऽस्य विद्यमानत्वाद्रुत्पत्तिवैयर्थ्यं स्यात् किं तर्हि। उत्पादात् पूर्वमविद्यमानस्यैव स्वभावस्य यतु प्रत्यायान् प्रतीत्य पश्चाद्रुत्पादो भवतीति।
प्र० प०, पृ० ११३

३. यस्तु अकृतकः स स्वभावः तथा, अग्नेरौष्ण्यम्, जातानां पद्मरागादीनां पदम्रागादिस्वभावश्च। स हि तेषां पदार्थान्तरसंपर्कजनितत्वात् स्वभाव इत्युच्यते............ तस्मादौष्ण्यमपि हेतु प्रत्ययजनितम्, ततश्च कृतकम्..............। वही, पृ० ११३

एक प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि स्वभाव के बिना परभाव भी नहीं माना जा सकता तो क्या स्वभाव निषेध के अनुरूप परभाव का भी निषेध होगा। इस सम्बन्ध में माध्यमिक कहते हैं कि स्वभाव और परभाव ही नहीं भावमात्र ही नहीं होगा।[1] और इस प्रकार से भाव के प्रतिषेध से अभाव भी प्रतिषिद्ध होता है। यदि भाव कुछ होता तो उसका अन्यथाभाव अभाव होता। जब घटादि भावरूप से असिद्ध है तो उस अविद्यमान स्वभाव के अभाव का प्रश्न ही कहाँ है। स्वभाव, अभाव, परभाव, भाव सर्वथा अनुपपन्न हैं।

हेतु परीक्षा :-

लंकावतार सूत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थापना करते हुए यह कहा गया है कि अविद्या, तृष्णा और कर्म तो आदि हेतु हैं।[2] आचार्य वसुबन्धु ने संस्कृत धर्मों का लक्षण करते हुए कहा है कि धर्म प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। साथ ही इन धर्मों का व्याख्यान अध्वशब्द से किया जाता है। गतधर्म, गच्छद् धर्म, गमिष्यद् धर्म के रूप में ये धर्म तीन प्रकार की संज्ञा पाते हैं और अनित्य स्वभावी होकर उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहते हैं।[3] क्षणस्थायिनि वस्तु का विवेचन करते हुए वसुबन्धु कहते हैं कि एक ही क्षण में वस्तु विनिष्ट होकर अतीत कालिक हो जाती है, वर्तमानकाल में रहकर वर्तमान कालिक कही जाती है और भविष्य की संभावना से भाविकालिक होती है। इसी एक क्षण में वस्तु का उत्पाद, स्थिति और विनाश होता रहता है।[4]

---

१. स्वभावं परभावं च भावं चाभामेव च।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने।। म०शा०, पृ० १३

२. तत्र आध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादो यदुत अविद्या तृष्णा कर्मेत्येवमाद्या महायते धर्माः प्रतीत्यसमुत्पाद संज्ञा प्रतिलभन्ते। एभ्य उत्पन्ना महायते स्कन्धात्वायतनाख्या धर्माः प्रतीत्यसमुत्पाद संज्ञा प्रतिलभन्ते। ते चाविशिष्टाः, कल्पन्ते बालैः।ल० सू०, पृ० ३५

३. अ० को० भा०, पृ० ४,५

४. ज्ञा० प्र० १, पृ० ४६-४७

सौत्रान्तिक इस सिद्धान्त में केवल इतना जोड़ देते हैं कि वस्तु के क्षण स्वरूपी होने पर भी उसमें स्थिति नहीं होती है। वस्तु की उत्पत्ति और विनाश की दो ही स्थितियाँ हैं, तीसरी स्थिति की स्वरूपावस्था नहीं है।[1]

हेतु प्रत्यय जन्य सामग्री पर आचार्य यह मत प्रकट करते हैं कि बीजादि हेतु-प्रत्यय सामग्री से फल की उत्पत्ति मानी जाएगी तो यह निश्चय करना होगा कि उस सामग्री से व्यवस्थित फल का उत्पाद होता है अथवा अव्यवस्थित फल का उत्पाद होता है।

अब यदि यह स्वीकार किया जायेगा कि हेतु प्रत्यय में पूर्व से ही फल अवस्थित है, जैसा कि सत्कार्यवादियों का मत है[2], तो उससे फिर फल की उत्पत्ति कैसे होगी और यदि यह कहें कि हेतु प्रत्यय में पूर्व से फल नहीं है तो उसमें नवीन फल उत्पन्न करने की शक्ति कहाँ से पैदा हो जाएगी।[3]

इसी तरह से आचार्य कहते हैं कि यदि फलोत्पत्ति के लिए हेतु अपना हेतुत्व देता है और निरुद्ध होता है तो उसके द्वारा जो दिया जाता है और निरुद्ध होता है वे दो होगें। इस प्रकार हेतु के दो स्वरूप होना उपयुक्त नहीं होगा।[4]

---

१. स्फु०, पृ० ९७-९८

२. असदकरणादुपादानग्रहणात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावच्च सत्कार्यम्। ज०मं०, पृ० ११

३. हेतोश्च प्रत्यायानां च सामग्रया जायते यदि।
फलमस्ति च सामग्रयां सामग्रया जायते कथम्।।
हेतोश्च प्रत्यानां च सामग्रया जायते यदि।
फलं नास्ति च सामग्रयां सामग्रया जायते कथम्।। म० शा०, पृ० १८

४. अतीतस्य तावत् फलस्य अतीतेन हेतुना सह जातु कदाचिदपि संगति-र्नास्ति अतीतत्वेनोभयोरप्य विद्यमानत्वात्।

××

तस्य भिन्नकालेन वर्तमानेन अतीतेन च हेतुना सह नास्ति संगमनम्, भिन्नकालत्वात्। अनागतेनापि हेतुना सह नास्ति संगमनम्, उभयोरविद्यमानत्वात्। प्र०प०,पृ० १७२-१७३

इसी प्रकार आचार्य भी कहते हैं कि हेतु-फल की परस्पर संगति भी नहीं होगी। अतीत काल की अतीत हेतु के साथ संगति नहीं होगी क्योंकि दोनों अविद्यमान हैं अनागत हेतु से अतीतफल की संगति नहीं होगी क्योंकि एक नष्ट और दूसरा अजात है। इस प्रकार दोनों अविद्यमान हैं और भिन्नकालिक हैं। जैसे वर्तमान हेतु से अतीत फल की तथा अतीतफल की अतीत, अनागत तथा वर्तमान हेतुओं के साथ संगति असंभव है, उसी प्रकार वर्तमान फल की त्रैकालिक हेतुओं से संगति असंभव है। इसलिए हेतु फलोत्पाद का सिद्धान्त संगत नहीं है।

आत्म परीक्षा :-

बौद्ध दर्शन के सभी मतवादी दार्शनिक इस एक बात पर तो सहमत हैं कि नित्य, अज, अपरिवर्तन स्वभावी आत्मा का कोई स्वरूप विद्यमान नहीं है। इसमें केवल प्रतिपादन की शैली में ही भिन्नता है। इसलिए आत्मा के सम्बन्ध में जो भी प्रमाण और तर्क दिये जाते हैं उन सबके मूल में यही भाव होता है कि पंच स्कन्धात्मक प्रज्ञप्ति में ही आत्मपद वाच्यता है अन्य आत्म तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तथ्य को लेकर भगवान् बुद्ध जब उपदेश करते हैं तो वे कहते हैं कि इन्द्रिय, विषय और विज्ञान में सभी अनित्य हैं। आत्मदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। ये सभी दुखात्मक हैं और जो दुखात्मक हैं वह अनित्य हैं। जो अनित्य है वह न मेरा है और न मैं उसका हूँ।[१] इस रूप में जो कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि पंचस्कन्धात्मक प्रपंच में आत्म सत्ता नहीं है।

---

१. यो, भिक्खवे, अनन्ता, तत्र वो छन्दरागो पहातब्बो। को च भिक्खवे, अनन्ता। रूपं भिक्खवे अनन्ता, तत्र वो छन्दरागो पहातब्बो। वेदना अनन्ता................।

सं० नि० २ (क), पृ० ३९०-३९२, म० नि० (रा०), पृ० ३-४

×××

यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्तातं नेतं मम नैसोऽहमस्मि, न मेसो अत्ताति एवमेतं यथाभूतं सम्मपंञाय ददब्बं। सं० नि० २ (क), पृ० १७७

×××

सब्बसो नाम रूपस्मिं यस्य नत्थि ममायतं।
असता च न सोचति स वे भिक्खू ति वुच्चति।। खु० नि० (१) क०, पृ० ५२

नागसेन और मिलिन्द का सम्वाद इस सन्दर्भ में बहुत प्रसिद्ध है। जब राजा मिलिन्द नागसेन के दर्शनार्थ जाता है तो वे पूछते हैं कि राजन् ! तुम जिस रथ से आए हो उसमें क्या चक्र रथवाची हैं, क्या अश्व रथवाची हैं, क्या दण्ड रथवाची है? इस पर राजा ने कहा नहीं, ये सभी मिलकर ही रथवाची हैं। पृथक्-पृथक् रूप से इनमें कोई रथवाचक नहीं है। तब नागसेन ने कहा कि इसी प्रकार से केश, नख, माँस, हस्त, पद, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार आदि न तो आत्मा हैं और न इनमें आत्मा है। इन सबका समूह आत्मवाची उसी तरह से हो जाता है जैसे रथ समूह रथवाची हो जाता है।[1]

विभाषा को प्रमाण रूप में स्वीकार करने वाले वैभाषिक आचार्यों का यह कथन है कि पदार्थ समूह में ही आत्म-प्रज्ञप्ति होती है। वे पदार्थों को संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म के रूप में विभाषित करते हैं और यह कहते हैं कि संस्कृतधर्मसास्रव होने के कारण निर्वाण में बाधक होते हैं इसके विपरीत असंस्कृतधर्म अनास्रव होने से अमल होते हैं। इस निरूपण में मन, चित्त अथवा विज्ञान की ही संज्ञा आत्मवत् होने लगती है जबकि मन, विज्ञान अथवा चित्त की क्रियाएँ न तो नित्य हैं और न ही ये स्वयम् नित्य अथवा आत्मरूप हैं।[2]

---

१. एवमेव खो महाराज अहमिप केसे च पटिच्च, लोमे च पटिच्च मत्पलुंगं च पटिच्च रूपं च पटिच्च, वेदनं च पटिच्च, संञं च पटिच्च, सङ्खारे च पटिच्च, विंञ्ञाणं च पटिच्च नागसेनोति खड.खा समञ्ञों पञ्ञत्ति बोहारो नाममत्तं वत्तति। परमत्थतो पनेत्थं पुग्गलो नू पलब्भति। मि० प०, पृ० ३०

××

यथा हि अङ्ग सम्भारा होति सद्दो रथो 'ति'।
एवं खन्धेसु, सन्तेसु, होति सन्तो ति सम्मुति।। मि० प्र०, पृ० ३

२. अ० वि०, पृ० ८, वि० म० (डी०) १४/८२

सौत्रान्तिक भी आत्मा की नित्यता और सतत् प्रवहशीलता नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि पदार्थों के क्षणोत्पाद और क्षणविनाशी होने के क्रम में ही आत्मभाव की प्रतीति होने लगती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आत्म तत्त्व की कोई उपलब्धि होती है।[1] एक तर्क देते हुए वे यह निरूपित करते हैं कि अनागत का जन्म जाति है। पलितभाव जरा है। जाति का च्युतभाव मरण है। यह सभी पंच स्कन्धों का ही होता है इसलिए इनमें आत्मा नहीं है।[2]

विज्ञानवादी यह कहते हैं कि अनादि प्रपंच की वासना से वासित चित्त आलय विज्ञान तथा तथागत गर्भ कहलाता है। इसी में सभी कुशल एवं अकुशल हेतु विद्यमान रहते हैं। इसी को ठीक से न समझ पाने के कारण आत्मवाद की भ्रान्ति होती है। विज्ञान के अनेक भेदों को जानते हुए भी उन्हें वास्तविक न मानकर केवल कार्यभेद से अथवा व्यावहारिक भेद से समझना चाहिए। जिस प्रकार समुद्र में और उसकी तरंगों में भेद नहीं है वैसे ही आलयविज्ञान तथा अन्य विज्ञानों में कोई भेद नहीं है। कर्म संचित करने के कारण जो चित्त कहलाता है वही दृश्य जगत् को विशेषात्मक रूप से जानने के कारण विज्ञान कहलाता है।

त्रिंशिकाकार स्पष्टरूप से कहते हैं कि लोक और शास्त्र में जो आत्मा और धर्म के उपचार प्रचलित हैं वे विज्ञान के परिणाम हैं। वे आत्मा अथवा धर्म के ग्राह्यांश के रूप में कल्पित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि लोक में जो सत्त्व, मनुष्य आदि पुद्गल तथा घट, पट, आदि धर्म प्रतीत होते हैं वे सब विज्ञान के ही ग्राह्यांश हैं।

---

१. आत्मलाभोऽनन्तरविनाशीति। क्षणस्यानन्तरक्षण इति नैरुक्तेन विधिना आत्मलाभः। अनन्तरविनाशी क्षणशब्देनाभिधीयते। स्फु० (अ०) ४/२

२. अनागतं जन्म जातिः पञ्चस्कन्धिका नामरूपस्वभावत्वात्। जरा मरणं यथानिर्दिष्टं सूत्र इति। जरा कतमा? यत्ततः खालित्यं पालित्यं इति विस्तरः। मरणं कतमत् या तेषां सत्त्वानां तस्मात्तस्माच्युतिश्च्यवनम्।। इति। स्फु० (अ०) ३/२८

उनकी वाह्यार्थतः किसी तरह से भी सिद्ध नहीं होती है।[1]

माध्यमिक दर्शन के आचार्य आत्म-विचार के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि आध्यात्मिक वाह्य कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं है। इसलिए अहंकार ममकार का सर्वथा परिक्षय करना ही तत्त्व है। सत्त्व की सत्काय दृष्टि से ही अशेष क्लेश उत्पन्न होते हैं। अतः उन क्लेशों और दोषों को योगी योगराज बुद्धि से निषेध करता है। संसार का मूल सत्काय दृष्टि है। सत्काय दृष्टि का आलंबन आत्मा है।

आचार्य तर्क करते हैं कि यदि स्कन्ध ही आत्मा है तो उसका उदय-व्यय, उत्पाद और विनाश मानना होगा। और फिर आत्मा की अनेकता भी माननी होगी। यदि आत्मा स्कन्ध व्यतिरिक्त कही जाएगी तो उसका लक्षण स्कन्ध नहीं होगा। यदि आत्मा स्कन्ध लक्षण नहीं है तो फिर उसका उत्पाद-स्थिति-भंग लक्षण भी नहीं होगा। इस स्थिति में वह अविद्यमान 'ख' पुष्प की तरह होगी।[2]

आचार्य चन्द्रकीर्ति का यह कहना है कि वस्तुओं की उपलब्धि होने पर ही समस्त प्रपंच जाल खड़ा होता है। रागी पुरुष दुहिता के प्रति कैसे रूप-लावण्य से आकर्षित नहीं होता है। यदि राग न हो तो तद् विषयक कल्पना जाल ही न बिछे। फिर सत्कायमूलक क्लेश उत्पन्न न हों और न ही किसी प्रकार से कल्पना का जाल बिछे।

---

१. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ...................... ।। त्रिंशिका, पृ० ८१

××

आत्मधर्मोपचार इति सम्बध्यते। आत्मा धर्माश्चोपर्यन्त इत्यात्मधर्मोपचारः। स पुन आत्मप्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिश्च। विविध इत्येनकप्रकारः। आत्माजीवो जन्तुर्मनुजो माणव इत्येवमादिक आत्मोपचारः। स्कन्धा धातव आयतनानि रूप वेदना संज्ञा संस्कारा विज्ञानमित्येवमादिको धर्मोपचारः। स्थि० भा०, पृ० ९५-९६

२. आत्मा स्कन्धा यदि भवेदुदयव्ययभाग भवेत्।
स्कन्धेभ्योऽन्यो यदि भवेद भवेदस्कन्धलक्षणः।।
आत्मन्यसति चात्मीयं कुत एव भविष्यति।
निर्ममो निरंहकारः शमादात्मात्मानीनयोः।। म० शा०, पृ० १७

जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख आदि रूपी इस संसार का अनुभव ही न होवे।[1]

इसी विचार सरणि के साथ आचार्य का यह कहना है कि चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता है। चित्त का कोई विषय होता तो किसी निमित्त का आरोपण करके वाणी की प्रवृत्ति होती। जब चित्त का विषय ही अनुपपन्न है तो निमित्त का अध्यारोप और वाणी की प्रवृत्ति का प्रश्न कहाँ उठता है। पदार्थ का स्वभाव निर्वाण के समान अनुपपन्न और अनिरुद्ध है अत एव चित्त की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए भगवान् बुद्ध ने कोई देशना नहीं दी है।[2]

अन्ततः यह निष्कर्ष दिया गया है कि तत्त्व परोपदेश गम्य नहीं है। वह स्वयम् के अनुभव से गम्य है।

काल परीक्षा :-

कालवादी काल त्रय को विज्ञप्ति मानता है। उसका कहना है कि उत्पन्न होकर निरुद्ध होने वाला भाव अतीत है, उत्पन्न होकर निरुद्ध न होने वाला वर्तमान है तथा जिसका स्वरूप लब्ध नहीं है वह अनागत है।

माध्यमिक आचार्य कालत्रय का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्युत्पन्न और अनागत की सिद्धि यदि अतीत की अपेक्षा से है तो वे दोनों अवश्य ही अतीत होंगे। जिसकी जहाँ असत्ता होती है वह उसकी अपेक्षा नहीं करता।

---

१. न हि अनुलभ्य दुहितरं रूपलावण्ययौवनवर्ती तद् विषयं प्रपञ्चमवतारयन्ति रागिणः। न चअनवतार्य प्रपंचं तद् विषयमयोनिशो विकल्पमवतारयन्ति। न च अनवतार्य कल्पनाजालम् अहं ममेत्यभिनिवेशात् सत्कायदृष्टिमूलकान् क्लेशगणानुत्पादयन्ति। न च अनुत्पाद्य सत्कायदृष्ट्यात्मकान् क्लेशगणान् कर्माणि शुभाशुभानिज्यानि कुवर्ति। प्र० प०, पृ० १५०

२. यस्मादनुत्पन्नानिरुद्धा निर्वाणमिव धर्मता धर्मस्वभावः धर्मप्रकृतिः व्यवस्थापिता तस्मान्न तत्र चित्तं प्रवर्तते। चित्तस्यात्रवृत्तौ च कुतो निमित्ताध्यारोपः। तदभावात् कुतो वाचां प्रवृत्तिः। वही, पृ० १५५

जैसे तैल को सिकता की और पुत्र को बन्ध्याकी अपेक्षा नहीं होती। इसलिए वर्तमान और अनागत को यदि अतीत की अपेक्षा है तो वे अतीत काल में अतीत के समान ही विद्यमान होगें और उनमें अतीत्व होगा। प्रत्युत्पन्न और अनागत यदि अतीत में नहीं है तो उनकी अपेक्षा करके उनकी स्थिति नहीं होगी। अतीत से अनपेक्ष प्रत्युत्पन्न की असत्ता स्पष्ट सिद्ध है। जिस प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत अतीत की अपेक्षा करें या न करें उभयतः उनकी सिद्धि नहीं होती उसी तरह अतीत और अनागत प्रत्युत्पन्न की अपेक्षा करें या न करें उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती।[१]

तथागत परीक्षा :-

एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती नगरी गए हुए थे। वहाँ पर पोट्ठपाद ने प्रश्न किया कि भन्ते! क्या लोक शाश्वत है, क्या लोक अशाश्वत है, क्या यह सत्य है और असत्य है। तथागत मरण के बाद होतें है अथवा नहीं होते हैं।[२]

ऐसे प्रश्नों का उत्तर भगवान बुद्ध नहीं देते थे और चुप होकर कह दिया करते थे कि ये प्रश्न अव्याकृत हैं किन्तु इसी प्रकार के प्रश्नों के क्रम में बाद में यह विचार किया जाने लगा कि तथागत हैं अथवा नहीं। कुछ दार्शनिक कहने लगे कि तथागत हैं और इसीलिए भव सन्तति भी है। उन्होंने महाकरुणा और प्रज्ञा धारण वैधातुक के सकल सत्त्वों के दुःख व्युपशम के निश्चय से असंख्य कल्पों में उद्भूत होकर अपने को क्षिति, सलिल, औषधि और वृक्ष के समान सत्त्वों को उपभोग्य बनाया और सर्वज्ञता का लाभ कर पदार्थों का अशेष तत्त्व परिज्ञात किया।[३]

---

१. प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च यदतीतमपेक्ष्य हि।
प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च कालेऽतीते भविष्यतः।।
प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च न स्तस्तत्र पुनर्यदि।
प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च स्यातां कथमपेक्ष्य तम्।।
अनपेक्ष्य पुनः सिद्धिर्नातीतं विद्यते तयोः।
प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च तस्मात् कालो न विद्यते।। म० शा०, पृ० १८

२. किं पन, भन्ते, अस्ससतो लोको, इदमेव सच्चं मोघमन्त्रति।
होति तथागतो परमरणा न होति तथागतो परं मरणा। दी० नि०१ (क०) पृ० १३

३. संयुक्त नि० पृ० ३४१

माध्यमिक परम्परा यह स्वीकार नहीं करती और यह कहती है कि तथागत नाम का कोई भाव स्वभावतः उपलब्ध नहीं होता। तथागत नाम से कोई अमल और निष्प्रपंच पदार्थ होगा तो वह स्कन्ध स्वभाव होगा अथवा भिन्न। तथागत स्कन्ध रूप नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर कर्ता एक कर्म होगा। तथागत स्कन्ध से अन्य भी नहीं हैं अन्यथा वह स्कन्ध से भिन्न भी होंगें।[१]

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि तथागत के व्यक्तित्व का रहस्य यह है कि उसे शून्य नहीं कहा जा सकता और अशून्य भी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार उनके व्यक्तित्व को उभय शून्य भी कहना संभव नहीं है और अनुभव शून्य भी नहीं कहा जा सकता। केवल व्यवहार सत्य की दृष्टि से शून्यता आदि का आरोपण कर प्रज्ञापित किया जाता है। जिसप्रकार से तथागत में शून्यता आदि का चतुष्टय अप्रसिद्ध है वैसे ही शाश्वत आदि का चतुष्टय भी अप्रसिद्ध है। लोक की अनन्तता अन्तता भी तथागत में प्रसिद्ध नहीं है।[२]

बन्ध एवं मोक्ष :-

बन्धन और मोक्ष पर विचार करने के क्रम में यह कहा गया है कि रागादि क्लेश सत्त्वों को अस्वतंत्र करते हैं इसलिए उन्हें बन्धन कहा जाता है। और इनसे बद्ध प्रथग्जन का वैधातुक अतिक्रमण नहीं कर पाते।

---

१. यदि तथागतो नाम कश्चित् पदार्थोऽमलो निष्प्रपंचः स्यात्, स स्कन्धस्वभावो भवेत्, रूपवेदनासंज्ञासंस्कार विज्ञानाख्यपंच स्कन्धस्वभावो भवेत्............यदि वा पंचस्कन्धव्यतिरिक्तो भवेत्..............तत्र तथागते वा स्कन्धाः स्युः स्कन्धेषु वा स भवेत् तथागतो वा स्कन्धवान् भवेत् धनवानिव देवदत्तः। सर्वथा च विचार्यमाणो न सम्भवति। प्र० प०, पृ० १८७-१८८

२. एवं शून्यमुपादानमुपादाता च सर्वशः।
प्रज्ञाप्यते च शून्येन कथं शून्यस्तथागतः।।
शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते।।
शाश्वताद्याशाश्वताद्या वै कुतः शान्ते चतुष्टयम्।
अनन्तानन्तादि चाप्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।। म० शा०, पृ० २२

किन्तु यह उदयव्ययशील क्षणिक तथा उत्पाद को परस्पर नष्ट करते हैं।

दार्शनिक जब निर्वाण पर विचार करते हैं तो वैभाषिक कहते हैं कि निर्वाण द्रव्य सत् है। हेतु परम्परा के उच्छेद का फल निर्वाण का परमलाभ है। इनके अनुसार निर्वाण में प्रतिसन्धि और मृत्यु का सर्वथा निषेध है। निर्वाण अजात और अविपरिणामी है। यह क्लेश, दुःख और भव का निरोध करने वाला सेतु है।[1]

सौत्रान्तिकों का इस सम्बन्ध में यह निरूपण है कि जो हेतु प्रत्यय जनित है वह संसार है। निर्वाण केवल क्लेश जन्म का अभाव है निर्वाण क्लेश कर्म जन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्तिमात्र है अतीत और अनागतवस्तु आकाश, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्तिमात्र हैं।[2]

आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जो लोग यह कहते हैं कि शून्यवाद में जब किसी का उत्पाद निरोध नहीं होता तो किसका निरोध होने से निर्वाण होगा क्योंकि क्लेश और स्कन्ध नहीं होते। इसके समाधान में आचार्य यह कहते हैं कि स्कन्धों को सस्वभाव मानने पर उनका उदय व्यय नहीं होगा, क्योंकि स्वभाव अविनाशी होता है। इसलिए स्कन्धों के निवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं है और तब निर्वाण का प्रश्न भी कहाँ है। अतएव आचार्य निर्वाण का लक्षण अप्रहीण, असाम्प्रतिक, अनुच्छिन्न, अशाश्वत, अनिरुद्ध और अनुत्पन्न के रूप में करते हैं।[3]

---

१. बौ० ध० द०, पृ० २८८

२. अ० को०, ४/२

३. यदि शून्यमिदं समुदयो नास्ति न व्ययः।
प्रहाणाद्वा निरोधाद्वा कस्य निर्वाण मिष्यते।
यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।
प्रहाणाद्वा निरोधो वा कस्य निर्वाणमिष्यते।
अप्रहीणमसम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नम् एतन्निर्वाण मिष्यते।। म० शा०, पृ० २८

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि निरुपधिशेष निर्वाण धातु में क्लेश कर्मादि अथवा स्कन्धों का अस्तित्व नहीं है। जैसे अन्धकार में रज्जु में सर्प अनुलब्ध है किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार निर्वाण में समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकारावस्था में रज्जु रज्जु था, सर्प नहीं था, इसी तरह क्लेश कर्मादि समस्त पदार्थ तत्त्वतः संसारावस्था में नहीं हैं।[१]

अब यह सिद्धान्त निरूपित किया जाता है कि निर्वाण किसी से प्रकाश्यमान और गृह्यमाण नहीं है। क्योंकि तब यह विचार करना होगा कि निर्वाण भाव, अभाव अथवा उभयरूप है। इसका प्रत्यक्ष किसने किया, क्या निर्वाण में कोई प्रतिपत्ता है, यदि है तो निर्वाण में भी आत्मा होगी। किन्तु निरुपादान आत्मा उस समय कैसे रहेगी और यदि कोई प्रतिपत्ता नहीं है तो इस सिद्धान्त का निश्चय किसने किया। यदि यह निश्चय संसारावस्थिति ने किया तो उसने विज्ञान से निश्चय किया अथवा ज्ञान से। विज्ञान से ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि विज्ञान निमित्त का आलम्बन करता है परन्तु निर्वाण में कोई निमित्त नहीं है। ज्ञान से भी यह ज्ञात नहीं होगा क्योंकि ज्ञान शून्यता का आलम्बी है और शून्यता अनुत्पाद मान है। ऐसी अवस्था में ज्ञान अविद्यमान एवं सर्वप्रपंचातीत हुआ, उससे निर्वाण के भावाभाव का निश्चय कैसे होगा।[२]

---

१. न हि रज्जुः अन्धकारावस्थायां स्वरूपतः सर्पोऽस्ति, सद्भूतसर्पवत अन्धकारेऽपि आलोकेऽपि कामचक्षुर्भ्यामिग्रहणात्। म० शा०, २६-२७

२. भवेदभावोभावश्च निर्वाणमुभयं यदि।
भवेदभावो भावश्च मोक्षस्तच्च न युज्यते।।

× × × × × × × × × × × ×

नैवाभावो नैव भावो निर्वाणं यदि विद्यते।
नैवाभावो नैव भाव इति केन तदयुज्यते।।

× × × × × × × × × × × ×

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपंचोपशमः शिवः।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः। म० शा०,पृ० २८-२९

शून्यता का प्रारम्भिक स्वरूप :-

यद्यपि माध्यमिक विचारधारा में शून्यता की अवधारणा का विचार विस्तार से और विशेष रूप से किया गया है कि इस विचारधारा का प्रारम्भ बौद्ध दर्शन में बहुत पहले से ही देखा जा सकता है। मूल बुद्ध देशना में सत् और असत् दोनों को ही निराकृत किया गया है तथा परमार्थ को अनभिलाप्य बताया गया है। और परमार्थ कर सत् तथा असत् वाच्यता की अनिर्वचनीयता ही माध्यमिक दृष्टि की विशेषता है। मनुष्य की तर्कबुद्धि ऐसी है जिसके द्वारा सत्य का सम्यक् अवबोध किया जा सके क्योंकि बुद्धि की सीमित सीमाएँ हैं। सीमित सीमावाली बुद्धि अपरिच्छिन्न और अनन्त सत्य को आत्मसात् नहीं कर सकती।

भगवान् के प्रारम्भिक उपदेशों में द्वैत् जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं था इसलिए प्राचीन हीनयान सम्प्रदायों में शून्यता का अर्थ भी एक सीमित दायरे में ही ग्रहण किया गया। वहाँ यह कहा गया कि मनुष्य एक संघात तथा संतान है। यह एक प्रवाहगत समूह है। इसके स्कन्ध समूह में किसी पुद्‌गल अथवा आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती है। देह, इन्द्रियाँ और मन पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं। इनकी समष्टि ही लोक में आत्मा के रूप में प्रचलित है। इसी को पुद्‌गल नैरात्म्य अथवा धर्म नैरात्म्य कहते हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन आदि में किसी जीव अथवा पुद्‌गल का अभाव ही तदगत शून्यता है। इसलिए इस कथन से यह अभिप्राय लिया जाने लगा कि शून्यता अथवा नैरात्म्य का अर्थ जीव अथवा आत्मा का अभाव मात्र है।

शून्यता का सिद्धान्त और पूर्वपक्ष :-

शब्द तथा तर्क द्वारा जिसे सहज तथा सामान्य रूप से सिद्ध करना कठिन हो उसके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न और संदेह उठना सहज तथा स्वाभाविक है। नागार्जुन के पूर्ववर्ती आचार्य इसीलिए शून्यता को लेकर अनेक प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं जैसे यह कहा गया कि यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो शून्यता के प्रतिपादन में जो कहा जाएगा वह स्वभावहीन होने से स्वभाव के खण्डन में असमर्थ हो जाएगा। और यदि यह कहा जाए कि शून्यवादियों की बात स्वभाव युक्त है तो फिर उनकी पूर्व प्रतिज्ञा ही खण्डित हो जाएगी। इसी तरह से यदि यह कहा जाता है कि सभी पदार्थ शून्य हैं तो उनकी शून्यता के प्रतिपादक वाक्य भी शून्य हो जायेंगे क्योंकि वे वाक्य भी सभी पदार्थों के अन्र्तगत हैं।

यदि यह स्वीकार किया जाए कि सर्वशून्यता की उक्ति उपपन्न है तो वह उक्ति स्वयम् शून्य हो जाएगी तथा शून्य उक्ति के द्वारा शून्यता का प्रतिपादन सम्भव नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि सब पदार्थ शून्य हैं तथा शून्यता की उक्ति शून्य नहीं है तो यह उक्ति सर्वत्र असंगृहीत होगी। यदि शून्यता की उक्ति को संगृहीत माना जाए और उसके साथ ही सब पदार्थों को शून्य तो वह उक्ति पुनः शून्य हो जाएगी अथवा प्रतिषेध में अक्षम होगी।[१]

नागार्जुन की शून्यता और उसकी परीक्षा :-

आचार्य नागार्जुन और इनकी कारिकाओं पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने वाले आचार्य चन्द्रकीर्ति शून्यता की स्थापना करते हुए कहते हैं कि जो प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है वही शून्यता का अर्थ है।[२] अभाव शब्द से और उसके अर्थ से शून्यता को न कहा जा सकता है और न ही उसे समझा जा सकता है। आचार्य कहते हैं कि माध्यमिक सिद्धान्त पर आक्षेप वही करते हैं जो भगवद् वाक्य के अभिप्राय सत्य द्वय का विभाग नहीं जानते। वे कहते हैं कि जो सत्य रूप के विज्ञान से रहित है उससे मोक्ष सिद्धि किसी प्रकार से नहीं हो सकती। भगवान् द्वारा प्रतिपादित मार्ग से जो बहिर्गत है, उसके कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है।[३]

आचार्य यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वस्तुओं का पारमार्थिक रूप वह है जो सम्यक् दृष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है किन्तु उसकी स्वरूप सत्ता नहीं है। वस्तुओं का सांवृतिक रूप वह है जो पृथग्जन की मिथ्यादृष्टि का विषय है किन्तु इसका भी स्वरूप असिद्ध है।

---

१. दृष्ट्व्य- वि० व्या०, पृ० ४,८,९,१२,१६

२. यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।। म० शा०, पृ० २६

× × × × × × × × × × × ×

एवं प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थः स एव शून्यता शब्दास्यार्थः न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थ सशून्यता शब्दस्यार्थः। अभाव शब्दार्थ च शून्यतार्थमित्यध्यारोप भवानस्मानुपालभते। प्र०प०,पृ० २१५

× × × × × × × × × × × ×

३. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः। म० शा०, पृ० २६

× × × × × × × × × × × ×

लोकसंवृत्या सत्त्वं लोक संवृत्तिसत्यम्। सर्वएवायमभिधानभिधेयज्ञानज्ञेयादि व्यवहारोऽशेषो रभोरसंवृत्ति सत्यमुच्यते। न हि परमार्थत एते व्यवहाराः सम्भवन्ति। प्र० प०, पृ० २१६

समस्त पदार्थ इन दो रूपों को धारण करते हैं। इन दो स्वरूपों में सम्यक् दृष्टा का जो विषय है वह तत्त्व है। वही पारमार्थिक सत्य है। मिथ्यादृष्टि का जो विषय है वह संवृत्ति सत्य है और परमार्थ नहीं है।

परमार्थ सत्य अवश्य है एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह स्व संवेद्य है उसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता। परमार्थ सत्य को प्रतिपादित करने की इच्छा से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति अपने हाथ से पकड़े धान्यादि पुंज को केशरूप में देखता है किन्तु उसे शुद्धि दृष्टिवाला जिस रूप में देखता है वही तत्त्व होता है। उसी तरह से अविद्या तिमिर से उपहत अतत्त्वदृष्टा स्कन्ध, धातु, आयतन का जो स्वरूप उपलब्ध करता है उसे ही अविद्या वासना रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते हैं, वही परमार्थ सत्य है। यही माध्यमिक आचार्यों की दृष्टि से परमार्थ सत् की व्याख्या की जा सकती है।[1]

एक प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि जब परमार्थ निष्प्रपंच है तब भगवान् ने अपरमार्थभूत, स्कन्ध, धातु, आयतन, चार आर्य सत्य, प्रतीत्य समुत्पाद की देशना क्यों की। अतत्त्व परित्याज्य होता है और जो परित्याग के योग्य है उसका उपदेश नहीं करना चाहिए।

इसके समाधान में आचार्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति का कहना है कि व्यवहार के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना शक्य नहीं है। और परमार्थ के अधिगम के बिना निर्वाण का अधिगम भी अशक्य है। जो इस सत्य द्वय की व्यवस्था को नहीं जानते हैं और शून्यता के विषय में विचार करते हैं उन्हें शून्यता इसी प्रकार विनष्ट कर देती है जैसे अविधि से पकड़ा गया सर्प पकड़ने वाले का विनाश कर देता है। आचार्य चन्द्रकीर्ति की यह स्थापना है कि किसी भी पदार्थ का पूर्व में कभी भी अस्तित्व नहीं था जिसे बाद में नास्ति के रूप में जाना गया हो।

---

१. सम्यङ्.मृषादर्शनलब्धभावं रूपं द्वयं विभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग् दृशां यो विषयः सतत्त्वं मृषा दृशा संवृत्तिसत्यमुक्तम्।। म०अ० ६/२३

पहले भी सदा भाव-स्वभाव की अनुपलब्धि थी इसलिए बाद में उसके अभाव का प्रसङ्ग ही नहीं उत्पन्न होता।[1]

इस रूप में शून्यता का जो स्वरूप दिया जा सकता है उसके अनुरूप यही है कि यह ऐसा तत्त्व है जो परोपदेश से गम्य नहीं है प्रत्युत स्वसंवेद्य है। जिस प्रकार से तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति असत्य केश, मक्षिकादिकों को देखता है और रोग से अनाक्रान्त व्यक्ति उस रोगी को केश का व्यवस्थित रूप दिखाना चाहे तो व्यर्थ होगा, क्योंकि ऐसा अन्य कोई कर नहीं सकता है। तिमिर नाश के लिए स्वयम् ही उस व्यक्ति को प्रयत्न करना होगा। इसी तरह से परमार्थभूत शून्यता दर्शन के अंजन से बुद्धिरूपी नयन अंजित होगा तब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा और स्वयम् तत्त्व अधिगत होगा। इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि यह तत्त्व शान्त है, प्रपंच रहित है क्योंकि इसमें संसार का कोई भी प्रपंच समाहित नहीं है। विकल्प चित्त का विकार है, शून्यता में किसी प्रकार के चित्त के विकार न होने से वह विकार रहित भी है। तत्त्व में भिन्नार्थता नहीं है जबकि अन्यत्र भिन्नार्थता की सम्भावना है। यह अभिन्न है।[2]

और अन्ततः शून्यता की स्थापना इन शब्दों में की जाती है कि वह न सद् है न असद् है न उभयात्मक है। वह चार कोटियों से विनिर्मुक्त है।[3]

---

१. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।
× × × × × × × × × × × ×
विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्वो यथा दुर्गृहीतो विद्यावा दुष्प्रसाधिता।।
× × × × × × × × × × × ×
संवृत्तिसत्यं हि अज्ञानमात्रासमुत्थापितं निःस्वभाव बुद्ध्वा तस्य परमार्थलक्षणां शून्यतां प्रतिपाद्यमानो योगी नान्तद्वये पतति। प्र०प०,पृ० २१६

२. तत्र नास्मिन् परप्रत्ययोऽस्ति अपरप्रत्ययम्। परोपदेशागम्यम्। स्वयमेवाधिगन्तव्यमित्यर्थः। यथा हि तैमिरिका वितथं केशमशकमक्षिकादिरूपं पश्यन्तो वितिमिरोपदेशेऽपि न शक्नुवन्ति केशानां यथावदवस्थितं स्वरूपमदर्शनन्यायेन अधिगन्तव्यतैमिरिका इवाधिगन्तुम्,..............।
प्र० प०, पृ० १५८-१५९

३. नसन्नासन्न सद्सन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः। म०वि०शा०, १/३, १/९

आर्यदेव आदि आचार्यों की शून्यता दृष्टि :-

आचार्य नागार्जुन ने शून्यता का तार्किक प्रतिपादन मात्र किया है किन्तु आचार्य आर्यदेव ने शून्यता के प्रतिपादन में बोधिसत्वचर्या का समन्वय किया है। आचार्य नागार्जुन शून्यता को परमार्थसत् बताकर उसके साथ एक व्यवहारिक या संवृत्तिसत्य स्वीकार करते हैं। आर्यदेव ने इस देशनादेश को अधिकार भेद के साथ समन्वित कर बोधिसत्व को योगचर्या के एक निश्चित क्रम में प्रदर्शित किया है जिसमें शून्यता का चरम स्थान है।

आचार्य आर्यदेव ने ब्राह्मणधर्म और जैन धर्म की जड़ता का कथन किया है और यह निरूपित किया है कि धर्म अहिंसा ही है तथा शून्यता ही निर्वाण है, किन्तु शून्यता का उपदेश सबके लिए नहीं है। हीन अधिकारियों के लिए दान का उपदेश है मध्यम अधिकारियों के लिए शील का उपदेश है और उत्तम अधिकारियों के लिए शान्ति का उपदेश है। शान्ति की प्राप्ति स्वभाव शून्यता से ही सम्भव है। यह सूक्ष्मतम् होते हुए भी प्रकारान्तर से सरल है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का कर्म आवश्यक नहीं है। शून्यता का ज्ञान ब्रह्मवत् नित्य सिद्ध है और यह निर्गुण तथा परम परमार्थ है। यह ज्ञान ऐसा ज्ञान है जिससे सभी प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है। क्योंकि जगत् में जो उसकी और उसमें जो भेद दृष्टि है, वही अज्ञान है जब शून्यता का ज्ञान हो जाता है तो न जगत् होता है, न जगत् की भेद दृष्टि। तब केवल शून्यता का ज्ञान ही होता है।

पंच स्कन्ध खण्डन :-

शून्यता की सिद्धि के लिए आचार्य नागार्जुन तथा चन्द्रकीर्ति की तरह स्कन्धों के अस्तित्व का खण्डन किया है। आचार्य नागार्जुन ने यह कहा है कि पंच स्कन्ध अहंकार उद्भूत हैं। अहंकार अनृतभूत और असद्भूत है। इसलिए अहंकार के विनष्ट होने पर स्कन्धों का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध किया जा सकता है। जब तक अहंकार के माध्यम से पंच स्कन्धों का ग्रहण होता है तभी तक आत्मा और कर्मफल का भी ग्रहण होता है।

शान्तिरक्षित और कमलशील यह कहते हैं कि आत्मा को न स्कन्धभिन्न कहा जा सकता है और न ही स्कन्धों से अभिन्न कहना सम्भव है। क्योंकि रूपादि स्कन्ध अनित्यभावी है इसलिए नित्य पुद्गल के साथ इनका कथन नहीं किया जा सकता और न ही पुद्गल की नित्यता कही जा सकती है। यदि किसी प्रकार से नित्य सत्ता का आख्यान किया जाएगा तो फिर विश्व की एकता का कथन करना पड़ेगा।[1] आचार्य आर्यदेव का यह प्रतिपादन है कि हेतु के बिना किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं की जा सकती और हेतु भावी पदार्थ नित्य नहीं हो सकते।[2]

आत्मा का खण्डन :-

आचार्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति जिस प्रकार किसी भी ऐसे कर्ता का निषेध करते हैं जो किसी क्रिया में प्रवृत्त होता हो और किसी कर्म का भोग करता हो। इसीलिए ये आचार्य तर्क देते हैं कि यदि कर्ता असद्भूत है तो उससे कर्म सम्पादित नहीं हो सकता और यदि कर्ता सद्भूत है तो भी उससे कर्म नहीं किया जा सकता। सद्भूतकर्ता और असद्भूतकर्ता दोनों के ही कर्म निर्हेतुक होगें और निर्हेतुक कर्म करने का कोई अभिप्राय नहीं होगा।[3]

---

१. त० सं० पं०, पृ० १६२

२. न विना हेतुना भावो हेतुमान् नास्ति शाश्वतः।
तेनाकरणतः सिद्धिः सिद्धिर्नेत्याह तत्त्ववित्।। च० श०, पृ० ३१

३. करोति यद्यसद्भूतो सद्भूतं कर्मकारकः।
अहेतुकं अवेत्कर्म कर्ता चाहेतुको भवेत् ।। म० शा०, पृ० ७८

× × × × × × × × × × × ×

एकः पदार्थः एकस्मिन् काले क्रियायुक्तश्चाक्रियायुक्तश्चेति न युज्यत एवेतत्। ततश्च सदसद्भूतोऽपि कारकः सदसद्भूतं कर्म न करोति, अविद्यमानत्वादित्यभिप्रायः।
प्र० प०, पृ० ७९

इसी रूप में आचार्यदेव यह प्रतिपादन करते हैं कि किसी भी पदार्थ के स्पर्शवान् न होने के कारण जैसे रथ के संचालक की कल्पना करना व्यर्थ है और उसकी आवश्यकता भी नहीं है, उसी तरह से प्रेरणा का स्पर्शवती होने के कारण किसी प्रेरक की कल्पना नहीं है। स्कन्ध समूह भी स्पर्शवान् नहीं है इसलिए इन स्कन्धों का प्रेरक और इनके द्वारा किसी भोक्ता की भावना का स्वरूप किसी भी तरह से निर्धारित नहीं किया जा सकता है, इसी तथ्य को शून्यातिरिक्त कर्ता की आवश्यकता का निषेध आचार्य ने किया है।[१]

बोधचर्यावतार में विज्ञानवादियों का मत खण्डित करते हुए यह निरूपण है कि यदि यह कहें कि विज्ञान स्मरण करता है तो यह कहना इसलिए उपयुक्त न होगा क्योंकि विज्ञान स्वसंवेदन शून्य होता है। विज्ञान के संवेदन शून्य होने के कारण उत्तरकाल का स्मरण नहीं हो सकता तथा अननुभूत का स्मरण कहना भी ठीक नहीं है।[२] और इस तरह से बुद्ध की उभयकृत देशना का व्याख्यान करते हुए भी आचार्य यह कहते हैं कि कोई दृष्टा नहीं है, कोई दृश्य नहीं है, कोई दर्शन भी नहीं है। केवल चतुष्कोटि विमुक्त, प्रपंच रहित शान्त तत्त्व ही है जो शून्यता से वाच्य है।

माध्यमिकों का शून्यवादी स्वरूप और उसकी समीक्षाः-

पूर्व में किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि जगत् से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है किन्तु वह अवर्णनीय है। लौकिक व्यवहार और शब्द व्यापार के द्वारा क्योंकि उसका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए वह शून्यता के रूप में ख्यात है।

---

१. भावस्य नास्यस्पर्शवतः प्रेरणा नाम जायते।
तस्माद् देहस्य चेष्टायाः कर्ता जीवो न जायते। च० श०, पृ० ४९, च० वृ०, पृ० ४९

× × × × × × × × × × × ×

उत्पन्नेषु संस्कारेष्वनन्तरभङ्गशीलेषु जात्यन्तरस्मरणं न युज्यते। जन्मान्तरसंस्कारा हि यत्रोत्पन्नाः एव नश्यन्ति। इहान्य उत्पद्यन्ते। तस्मादात्मातीते काल एवमेवभभूदिति स्मृतिर्नयुज्यते। स्याच्चेदात्मा नित्यस्तदैव जात्यन्तरचारित्वेनानुस्मृतिर्युज्यते।
च० वृ०, पृ० २३२, बो०ध०द०,पृ०२२३

२. बो० च०, पृ० १९१

क्योंकि किसी पदार्थ की सत्ता के निरूपण में अस्ति, नास्ति, तदुभय और तन्नोभय रूप से चार प्रकार से कथन किया जाता है किन्तु शून्य का कथन न अस्ति के द्वारा किया जा सकता है, न नास्ति के द्वारा किया जा सकता है, न तदुभय रूप से किया जा सकता है और न तन्नोभय रूप से किया जाना सम्भव है। इसलिए वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है इसीलिए उस परम तत्त्व की सूचना देने के लिए शून्यता शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार से यह भी कहा जाता है कि वह न सत् है, न असत् है न उभयात्मक है। माध्यमिक जन इसीलिए उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहते हैं।[1] यही शून्यवादियों का स्वरूप है और अपनी इसी विवेक बुद्धि से और दर्शन से दर्शन जगत् में प्रतिष्ठित हैं।

---

१. न सन् नासन्न सद्सन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका: विदु:।। म० अ० १/७

चतुर्थ अध्याय

आचार्य शङ्कर तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि

चतुर्थ अध्याय

(आचार्य शङ्कर तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि)

आचार्य शङ्कर तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि आचार्य शङ्कर की अद्वैतवादी दृष्टि, माया का स्वरूप, माया की व्यापकता माया और अविद्या, प्रमाण, प्रमाणों की गतार्थता, जीव, ईश्वर और उसका स्वरूप, ईश्वर की विभुता, संसार रचना में ईश्वर की कारणता आत्मा और उसका स्वरूप, आत्मा का सृष्टि कारणत्व आत्मा का बन्ध और मोक्ष, आत्मा तथा ब्रह्म का ऐक्य, ब्रह्म का स्वरूप, सृष्टि का कारणरूप ब्रह्म, ब्रह्म का बन्ध तथा मोक्ष, तत्त्वमसि का अर्थ अहं ब्रह्मास्मि की गतार्थता, अन्य आचार्य और उनकी दृष्टि शङ्कर का आत्मवाद और उसका शून्यात्मक स्वरूप।

चतुर्थ अध्याय

आचार्य शङ्कर तथा उनकी परम्परा के आचार्यों की दार्शनिक दृष्टि :-

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि कहा जाता है। अब तक निरूपित दार्शनिक विचारों और प्रवृत्तियों का श्रेष्ठतम प्रदर्शन वेदान्त दर्शन में उपलब्ध होता है। श्रुति के परम सिद्धान्त के रूप में और वेदों के अन्तिम निष्कर्षात्मक विचारों के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण इस दर्शन को वेदान्त कहते हैं। एक विचार यह भी दिया जाता है कि उपनिषदों के वैदिक रहस्यात्मक सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण भी इसे वेदान्त कहते हैं और इसी से इसकी वेद-सिद्धता तथा महत्ता प्रकट है। बाद में वेद विचारों के व्याख्याकारों में और उपनिषदों के अध्येताओं में उनके अध्यात्म तथा रहस्यात्मक विचारों को लेकर मत-भिन्नताएँ प्रकट होने लगीं तो महर्षि वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र के माध्यम से एक ऐसी पुष्ट परम्परा का निर्माण किया जो वेदान्त दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुई और जिस परम्परा में आचार्य शङ्कर जैसे तपस्वी अपनी प्रामाणिक विचार-सरणि का स्थापन कर सके। बाद में यह दर्शन भारतीय दर्शन-परम्परा में भी मुकुटमणि सिद्ध हुआ।

आचार्य शङ्कर की अद्वैतवादी दृष्टि :-

संसार में जो विषयानुभूति होती है उसके दो अंश होते हैं- एक अनुभव करने वाला और दूसरा अनुभूत विषय अथवा ज्ञेय पदार्थ। जो वास्तववादी हैं अथवा यथार्थवादी हैं उनकी दृष्टि में जीव और जगत् की दो स्वतंत्र और अनुभूत स्थितियाँ हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होने लगता है कि आत्मा ही एक मात्र सत्ता है। वही, अनुभूत और अनुभावक है। जगत् की सत्ता केवल व्यवहार मात्र के लिए स्वीकार की गई है।[1]

---

१. ऐ.भा. २/९, तै.भा. २/१

ज्ञप्ति आत्मा का स्वरूप है तथा नित्य है। चक्षुरादिकों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द-स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्म विज्ञान के विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं। इस तरह से उनकी प्राप्ति आत्म ज्ञान के द्वारा होती है। इसलिए अद्वैत सिद्धान्तवादी यह कहते हैं कि जगत् की समस्त वस्तुएँ आत्म विज्ञान के द्वारा प्राप्त होकर उत्पन्न होती हैं। जो पदार्थ नामरूप से विकार को प्राप्त होते हैं वे अन्तर्निविष्ट शक्ति के कारण ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नाम रूप की जिन अवस्थाओं में विकृति होती है वे सभी अवस्थाएँ नाम रूप का परित्याग नहीं करतीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कार्यसत्ता में सदा-सदा कारण सत्ता अनुस्यूत रहती है। कारण रहित किसी भी कार्य की सत्ता का आख्यान नहीं हो सकता। आचार्य शङ्कर का इस सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण है कि जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं हैं अपितु स्थितिकाल में भी सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं।[१] आचार्य श्री अपने इस सिद्धान्त को अपने भाष्य में निरूपित करते हैं और यह लिखते हैं कि प्रजा न केवल सन्मूलक है अपितु वह स्थिति काल में भी ब्रह्म पर ही आश्रित रहती है। इसका कारण यह है कि प्रजा ब्रह्म से उत्पन्न होती है इसलिए उसका मूल सद्रूप ब्रह्म है। स्थितिकाल में भी सत् में निवास करती है इसलिए वह सत् पर आश्रित रहकर ही विद्यमान रहती है।[१] असत् प्रजा की कल्पना से उसके हेतु के ब्रह्म का निरूपण नहीं हो सकेगा और इससे ब्रह्म की नित्यात्मकता भी प्रभावित होगी।

---

१. प्रजा : न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतना: सदाश्रया एव।
छा.उ., शां. ६/४

माया का स्वरूप :-

माया के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए हम श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस मन्त्र से प्रारम्भ कर सकते हैं जिसमें कहा गया है कि माया को प्रकृति और मायावी को महेश्वर मानना चाहिए। उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर ने यह लिखा है कि संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी हैं। उस मायावी महेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत-प्रोत है।[1]

माया के इस मिथ्या ज्ञान से ही आत्मा-अनात्मा का परस्पर तादात्म्य निश्चय कर और उनके चैतन्य तथा जायादि धर्मों का अध्यास कर यह लोक व्यवहार में प्रसिद्ध है। मैं इस शरीरादि रूपकर्ता, भोक्ता आदि हूँ, मेरे ये शरीर मित्रादि हैं। ये मिथ्या व्यवहार सत्यात्मा और अनृत आत्मा को मिथुन बनाकर नैसर्गिक रूप से प्रवृत्त हैं। इससे इनके वासना अज्ञानादि रूप कारण भी अनादि हैं। पूर्व के असत्य साधन से ही पर के असत्य अध्यास होते हैं।[2]

---

१. माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्याक्यवभूतस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। वही. पृ.१५६

× × × × × × × × × × × ×

मायात्विति। जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिमायैवेति विद्यादिजानीयात्।
शाङ्करभाष्य वही, पृ. १५६

२. तथाप्यन्योन्य स्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्यो न्यधर्माश्याध्यत्येतरेतराविवेकेन......
.... सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिको यंलोकव्यवहारः।
ब्र.सू.शां.,पृ. १२

प्रश्नोपनिषद् में जब यह पूँछा गया कि विरज सूर्य के समान जो प्रकाश युक्त आत्मभाव है, वह किसे प्राप्त होता है और किसे नहीं तो वहाँ पर माया की मायात्मकता तथा उसके अनृत और कपटी रूप का आख्यान किया गया है। यह कहा गया है कि अपने आपको बाहर से अन्य प्रकार से प्रकट करना तथा अन्यथा कार्य करना मिथ्याचार माया है।[1]

एक स्थान पर मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षि चैतन्य कहा गया है और उस चैतन्य की उपाधिभूत माया एक है। ''इसी माया के कारण इन्द्र बहुलता को प्राप्त हुए''– यह उदाहरण देकर माया के मायात्व को प्रकट किया गया है।[2]

इस सन्दर्भ में माया का और विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादन किया गया है कि माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि हो तब चैतन्य में साक्षित्व होता है।[3]

---

१. माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्यायारस्या। प्र.उ.पृ. ३०

२. ईश्वरसाक्षितु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूत मायया: एकत्वात्। वे.प., पृ. ८९

३. मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वर:, मायया: विशेषणत्वे ईश्वरत्वम् उपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्व साक्षित्वयोर्भेद:। वही, पृ. ९२

माया की व्यापकता :-

माया और अविद्या तुल्यात्मक रूप में प्रयुक्त हैं और इनका व्यापक प्रभाव है। यह आचार्य शङ्कर ने स्थान-स्थान पर निरूपित किया है। जैसे यह कहा गया है कि कूटस्थ ब्रह्म भी अपनी माया उपाधि के कारण अर्थात् माया शक्ति के कारण सबका स्रष्टा कहा जा सकता है। इस कार्यकारणात्मक प्रपन्च में वह परमात्मा अपनी माया के कारण बंधा हुआ है।[१]

अन्यत्र माया की व्यापकता का आख्यान इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि संसार में विपरीत प्रतीति के कारण को विश्व माया कहा गया है। यह मत आचार्य शङ्करानन्द का है।[२] नारायणाचार्य का यह मत है कि सारी माया ही विश्व है। आचार्य शङ्कर माया की विशालता और उसकी व्यापकता का कथन करते हुए कहते हैं कि सुख, दुःख एवं मोहमय सम्पूर्ण प्रपन्च रूप माया है जो 'अहं ब्रह्मास्मि' के अनुभव से निवृत्त हो जाती है।[३]

---

१. मायेति कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वस्त्रष्टुत्वमुपन्नमित्येतत्। विश्वं पूर्वोक्त प्रपन्च सृजत उत्पादयति। त्वमापया कल्पिते तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे मायायैवान्य इव संनिरुद्धः संबद्धो विद्यावश्यो भूत्वा संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थः। श्वे, पृ. १५० पर शाङ्करभाष्य।

२. विश्वस्य माया विपरीतप्रतीतस्तत्कारणं च विश्वा चासौ माया येति वा तस्या निवृत्तिः सर्वात्मनानुलम्भः।

वही, पृ. ७२ की पाद टिप्पणी

३. 'अहं ब्रह्मास्मि' इति भूयश्चासकृदन्ते प्रारब्धकर्मान्ते यदा स्वात्मज्ञान निष्पत्तिरन्तस्तस्मिन्त्वात्म-ज्ञानोदयवेलायां विश्वमाया निवृत्तिः। सुख-दुःखमोहात्मकाशेष प्रपञ्चस्यमायानिवृत्तिः। वही, पृ. ७० तथा हिन्दी व्याख्या

अविद्या के विस्तार का आख्यान इन शब्दों में और किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि अविद्या के भीतर विद्यमान अपने को महान् बुद्धिमान् मानने वाले कुटिलगति का आलम्बन करने वाले मूढ़ पुरुष अन्धे से ही परिचालित अन्धे के समान अनेक कुटिल गतियों को प्राप्त होते हैं। आचार्य शङ्र इसकी व्याख्या में अविद्या में पुत्र-पशुओं को मानते हुए तृष्णा के सहस्त्रों पाँशों से युक्त जीव को उसी प्रकार परिचालित मानते हैं जैसे अन्धे अथवा दृष्टिहीन पुरुष विषम मार्ग से चलते हुए अनर्थ को प्राप्त होते हैं। वे जरा, मरण तथा रोगादि दुःखों को अविद्या के कारण ही भोगते हैं।[1]

संसार की कामनाओं का मूलतः विनाश कब होता है इस पर अपना समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य शङ्कर यह अभिमत देते हैं कि जिस समय जीवितावस्था में ही हृदय-बुद्धि की सब ग्रन्थियाँ अर्थात् बन्धनरूप अविद्याजनित प्रतीतियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तब वह मर्त्य अमर हो जाता है। क्योंकि यह शरीर मैं हूँ, यह धन मेरा है, मैं सुखी और दुःखी हूँ- इस प्रकार का अनुभव अविद्या प्रत्यय है।[2]

---

१. अविद्यायामन्तरे मध्ये धानीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते..................अविवेकिनोऽन्येमैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषेमेपथि यथा वहवोऽन्या महान्तमनर्थ-मृच्छान्ति तद्वत्।

– क.शां.,पृ. ४४ पर शाङ्करभाष्य, दृष्टव्य सत्यानन्द दीपिका।

२. यदा सर्वे प्रभियन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्यबुद्धेरिह जीवत एवं ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढ़बन्धनरूपा अविद्यापत्यया इत्यर्थः। अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी............तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति।

वही, पृ. १५२-१५३ पर शाङ्करभाष्य तथा सत्यानन्द दीपिका।

माया और अविद्या :-

माया के इस स्वरूप को ही अज्ञान, अविद्यादि शब्दों से भी घोषित किया गया है। सदानन्द योगीचन्द्र ने अज्ञानरूपा अविद्या का लक्षण दिया है कि यह सत्-असत् रहित जो अवर्णनीय है, त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी तथा भावरूप है। जिसके अनुभव से 'मैं अज्ञ हूँ'- ऐसा कहा जाता है।[१]

अविद्या के रूप में जिस अज्ञानात्मक शक्ति का आख्यान किया गया है उसके लिए भी यही कहा गया है कि अविद्या से ग्रस्त जीव अपनी आत्मत्वरूपावस्थिति के पूर्व अपररूप देह को ही अविद्या के कारण आत्मभाव से समझता है।[२] इसका अभिप्राय यह हुआ कि अविद्या जीव के यथार्थ ज्ञान में बाधक होती है अथवा अविद्या से आबद्ध जीव यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता।

---

१. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्। वे.सा., पृ. ७३

२. प्रागेतस्याः स्वरूपसम्पत्तेरविद्यया देहमेवापरं रूपमात्मत्वेनोपगत इति तदपैक्ष्येदयुच्यते स्वेन रूपेणेन। छा.उ.,पृ. ८८३ पर शाङ्करभाष्य

अविद्या के साथ जिस प्रकार माया शब्द का प्रयोग किया गया है उसी तरह से वेदान्त ग्रन्थों में अज्ञान को अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। एक स्थान पर यहाँ कहा गया है कि अधंकारादि से समर्थित जीव का अविवेक कब विनष्ट होता है तो उत्तर के रूप में यह प्रतिपादन है कि अज्ञान का जब सर्वथा विनाश हो जाता है तो सभी तरह की अविद्या स्वतः विनष्ट हो जाती है।[१] इससे यह प्रतीति भी की जा सकती है कि अविद्या का आधार अविवेक अथवा अज्ञान है।

अविद्या को अनादि माया और कारण उपाधि के रूप में भी कहा गया है। इसमें अनादि का अभिप्राय आदि रहित, अविद्या का अभिप्राय मायापरपर्याय अज्ञानता कहा गया है।[२]

ब्रह्मसूत्र में आचार्य शङ्कर माया के भ्रमात्मक निर्माण और प्रतीति के लिए अविद्या शब्द का प्रयोग करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि जैसे जागने के पहले स्वप्न के व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं। वैसे ही ब्रह्मात्मता के पहले तक सभी व्यवहार सत्य ज्ञात होते हैं।

---

१. कदा अभिमान निवृतिः ? सर्वात्मना अविवेके निवृत्ते सति। कदा अविवेक निवृत्तिः? सर्वात्मना अज्ञाने निवृत्ते सति। कदा अज्ञान निवृत्तिः? ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति अविद्यानिवृत्तिः सर्वात्मनाभवति। आ.वि., पृ. १२

२. अनायविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।
उपाधित्रितयादन्यभात्मानवधारयेत्।। वही, पृ. ३६

× × × × × × × × × × × ×

अनादि आदिरहितम्, अविद्या मायापरपर्याया अज्ञानता। भाष्य, वही, पृ. ३७

यह विकारों के कारण होता है और विकारों को ही सभी प्राणी अविद्या से आत्मरूप से आत्म सम्बन्धी रूप में मेरा और मम का भाव ब्रह्मता के पूर्व तक समझता है।[1]

स्वप्न की सृष्टि और जीव का ब्रह्मांश कहा जाने आदि के सन्दर्भ में पूर्वाचार्यों की शंकाओं और आपत्तियों का निराकरण करते हुए आचार्य ने कहा है कि स्वप्न सृष्टि से मिलाकर अभाववादियों की तरह मायात्मक सृष्टि को अपलाप सृष्टि नहीं कहा जा सकता। यह सृष्टि मायामात्र सृष्टि है। इसी प्रकार से ब्रह्म और जीव के अंश और अंशी के सम्बन्ध को अग्नि और स्फुलिंग की भाँति प्रकाशत्व और दाहकत्व होने पर भी जीव में असत्यादि प्रत्यक्ष हैं। यहाँ पर भी इन दोनों के पार्थक्य को मायात्मक ही जानना चाहिए।[2]

---

१. विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यतेत्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्या....। ब्र.सू. पर शां.भा., पृ. ३९९

२. मायामात्रत्वान्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोस्ति। नेत्युच्यते।..........सूचकस्य हि स्वप्नोभवति भविष्यतोः साध्वसाधनोः।...........तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्। ब्र.सू.शां.भा., पृ. ७०२

× × × × × × × × × × × ×

अथापिस्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवाग्नेरिव विस्फुलिङ्गतत्रैव सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः....सत्यपि जीवेश्वरयोरशाशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीत तथर्मत्वम्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्। ब्र.सू.शां.भाष्य, पृ. ७०४-७०६

प्रमाण :-

सामान्यरूप से यह अवधारणा प्रचलित है कि 'प्रमा' की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है और प्रत्येक दर्शन में अपने-अपने तर्क-व्यवहार के आधार पर प्रमाणों को स्वीकृत किया है। जैसे कि चार्वाक केवल प्रत्यक्ष, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान, सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, भावमत, मीमांसक तथा वेदान्त दर्शन के आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवम् अभाव को तथा पौराणिक इन छह में संभव और ऐतिह्य जोड़कर आठ प्रमाण स्वीकार करते है।[1]

आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के भेद से छह प्रमाणों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है।[2] इन प्रमाणों की संख्या का निर्देश करने के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि ये प्रमाण हैं- इसलिए इनका कथन किया जा रहा है।[3]

---

१. प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका: बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम्।।
पञ्च प्रभाकरा भट्टास्तथावेदान्तिश्चषट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टो प्रमाणान्ति कुर्वन्ति वै।। वे०प०, १९-२०

२. तानि व प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्युनपलब्धिभेदात्। वही, २०

३. स पञ्च ब्रह्मज्ञाननात्-इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते। वही, पृ. ६

किन्तु इसके विपरीत ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में आचार्य शङ्कर इन प्रमाणों की ब्रह्मसिद्धि में उपादेयता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका यह तर्क है कि देह और इन्द्रियादि अध्यास जन्य ''अहं'' और ''मम'' इस प्रकार का व्यवहार होता है। क्योंकि देहादि में अहं ममादि को अभिमान रहित को प्रमाता रूप की असिद्धि होने पर प्रमाण की भी असिद्धि से प्रमाणमूलक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता।[1]

इस सम्बन्ध में आचार्य का यह निरूपण है कि कोई यदि यह कहता है कि प्रमाणादि का व्यवहार विद्वानों के लिए है तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि अविद्याविषयक व्यवहार विद्वान और अविद्वान को समानरूप से होते हैं।[2]

प्रमाणों के सम्बन्ध में इस ऊहापोहात्मक दृष्टि के कारण ही डॉ० पालडायसन ने यह मत व्यक्त किया है कि ज्ञान के दार्शनिक साधन के स्थान पर एक धार्मिक साधन को रखकर वेदान्त इस कठिनाई को पार करता है।[3]

---

१. देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरक्षितरूपप्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्यनुपपत्तेः।......न च प्रमातूत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरहित। वही, शाङ्करभाष्य, पृ. १५

२. यथा दण्डोप्तकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमपमिच्छतीति पलाकयितुमारभन्ते, हरिततृण्सुर्णापाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखी भवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः कूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यातकरान् बलवत् उपलभ्य ततो निवर्ततन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समान पश्चादिभिः पुरुषां प्रमाणप्रमेय व्यवहारः। वही, पृ. १६

३. वे.द.,पृ. ९०

प्रमाणों की गतार्थता :-

वेदान्त परिभाषाकार ''प्रमायाः करणं प्रत्यक्षम्'' इस प्रकार का जब प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं तब वे यह भी निरूपित करते हैं कि प्रमाण चैतन्य मात्र ही है। इसके प्रमाण में वे 'अवरोध ब्रह्म' के निरूपण वाली श्रुति भी प्रस्तुत करते हैं।[1]

इस मूल निरूपण के पश्चात् जब यह शंका उपस्थित की जाती है कि चैतन्य ही अनादि और अकार्य है तब उस चैतन्य के ज्ञान में इन्द्रियादिकों की कारणता कैसे निरूपित की जा सकेगी तो इसके उत्तर में समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि चैतन्य अनादि होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्तःकरण वृत्ति, इन्द्रियसंनिकर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। इसी से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य ''आदिमत'' से – ऐसा कहा जाता है। वृत्ति को ज्ञान शब्द से क्यों कहा जाता है, इस प्रकार के प्रश्न का भी समाधान वहाँ दिया गया है और कहा गया है कि वृत्ति ज्ञान को मर्यादित करती है इसलिए उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है।[2]

---

१. तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षेप्रमाणमात्र चैतन्यमेव। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुतिः। अवरोधादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थः।

वे.प.पृ. २०

२. चैतन्यस्यानादित्येपि तदभिव्यएकान्तः करणवृत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्य वृत्तौ ज्ञानत्वोपधारः। तदुक्तम्अन्तःकरणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात्। वही, पृ.२५

इसी प्रकार जब आचार्य अनुमान प्रमाण का लक्षण करते हैं तो वे अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं। और इस अनुमति-प्रमाण को व्याप्तिज्ञानमलेन व्याप्ति ज्ञानजन्य कहा गया है।[१]

आचार्य कहते हैं कि इस रूप में जब अनुमान प्रमाण निरूपित हो जाता है तो उसी के द्वारा ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपन्च की मिथ्यात्वसिद्धि होती है। जैसे कि ब्रह्मभिन्न सर्व मिथ्या है क्योंकि यह सब ब्रह्मभिन्न है। जो ब्रह्मभिन्न रहता है, वह मिथ्या होता है जैसे शुक्तिरूप्य।[२]

इसी तरह से आचार्य जब 'तत्र सादृश्य प्रमाणकरणमुपमानम्' माध्यम से उपमान का लक्षण करते हैं तब वे सादृश्य प्रमाण के करण को उपमान कहते हैं।[३] और इसकी गतार्थता इसलिए है क्योंकि योगादि सम्बन्धी प्रकृति भूत पौर्णमासादि के समान विकृतिभूत सौर्ययागादि का अनुमान करना चाहिए- इस ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह ज्ञान सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है।[४] इसी प्रकार से अन्य प्रमाण-विवेचन भी वहाँ पर प्राप्त हैं।

---

१. अनुमतिकरणमनुमानम् । अनुमिति व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या। वे.प., पृ. १४८

२. एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्न निखिलप्रपञ्चास्य मिथ्यात्व सिद्धिः।
तथा हि-ब्रह्मभिन्नं सर्वमिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात्, यदेव तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम्।
वही, पृ. १६८

३. वही, पृ. १८०

४. वही, पृ. १८२

जीव :-

श्रीमद्भगवद्गीता में पुरुष और जीव की जो पृष्ठभूमि दी गई है उसके अनुरूप भगवान कृष्ण ने, जो स्वयम् ब्रह्म स्वरूप हैं, कहा है कि इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इस प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। इसी तरह से इस लोक में दो प्रकार के पुरुषों के अस्तित्व का भी कथन किया गया है जिन्हें 'क्षर' तथा 'अक्षर' का नाम दिया है। तथा इनमें से सम्पूर्ण प्राणियों को 'क्षर' तथा कूटस्थ 'अक्षर' को कहा गया है।[१]

इसी प्रकार से मुण्डकोपनिषद् में यह कहा गया है कि जो सदा साथ-साथ रहने वाले एक ही शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं उनमें से एक अपने कर्म रूप सुख-दुःखात्मक फल का आस्वाद लेता है और दूसरा केवल निरपेक्ष भाव से देखता है।[२]

---

१. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति।
× × × × × × × × × × × ×
द्वाविभे पुरुषों लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थौ क्षर उच्यते। वही, पृ. २४१, २४६

२. द्वा सुपर्णो सयुजा सखाया समानंवृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वन्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाक्शीहि। ई.द्वा.उ., पृ. ६४

इसी प्रकार से मिलते-जुलते भाव के कथन को कठोपनिषद् भी इस रूप में व्यक्त करती है कि ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं कि शरीर में बुद्धिरूपी गुहा के भीतर उत्कृष्ट ब्रह्मस्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट अपने कर्मफल को भोगने वाले छाया और घाम के समान परस्पर विलक्षण दो हैं। वे जीव और ईश्वर हैं।[1]

इस मूल कथन पर आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में यह प्रतिपादित करते हैं कि अवश्यम्भावी होने के कारण सत्कर्म का पान करने वाले दो आत्मा हैं। उनमें से एक केवल कर्म-भोग का पान करता है और दूसरा नहीं। वे दोनों संसारी और असंसारी होने के कारण छाया तथा घाम के समान परस्पर विलक्षण हैं।[2]

एक अन्य स्थान पर आचार्य शङ्कर यह निरूपित करते हैं कि वह आत्मा अविद्या से जुड़कर अविद्या के कार्यों-देव, इन्द्रिय आदि को बन्ध कर भोक्ता के भाव से बंधता है। किन्तु व्यक्ति और समष्टि रूप ईश्वर परस्पर संयुक्त है। इसमें से व्यष्टिभूत ईश्वर देह-इन्द्रियात्मकों से बंधकर अनीश्वरात्मक होकर जीव रूप में कहा जाता है।[3]

---

१. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपो ब्रह्मविदो वदन्दि पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता:।। क.उ.,पृ.७१

२. ऋतं सत्यमवश्यमावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफल पिबति भुंक्ते नेतर:........
................तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति।
वही, पृ. ७२-७३ पर शाङ्करभाष्य

३. स आत्माविद्यातत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभिर्बध्यते भोक्तृभाववत्।
एवदुक्तं भवित-परस्परसंयुक्तोव्यष्टिसमष्टिरूप ईश्वर:।
तद्व्यष्टिभूतत्वेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीव:।। श्वे., पृ. ६४ पर शाङ्करभाष्य

वेदान्त परिभाषा में आत्मा में अविद्या के सम्पर्क से ही जीव के कथन का समर्थन किया गया है और कहा गया है कि जीव तथा ईश्वर में भेद अविद्या जनित उपाधि से ही होता है। उपाधि से उत्पन्न होने वाले दोष प्रतिबिम्बभूत जीव में रहते हैं[1] और कर्ता, भोक्ता, सुख, दुख, लोक, परलोक के आवागमन के व्यवहार के विज्ञानमय चैतन्य को ही जीव कहा जाता है।[2]

आचार्य शङ्कर विस्तार से ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में यह स्पष्ट करते हैं कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि जिन-जिन श्रुतियों का उदाहरण दिया जाता है, वे सब यह सिद्ध करती हैं कि जीवात्मा में नित्यत्व का बोध होता है। इस कारण आचार्य सिद्धान्त देते हैं कि अविकृत ब्रह्म के जीवभाव के स्वीकार से प्रतिज्ञा का बोध नहीं होता। जीव और ब्रह्म के लक्षण भेद उपाधि निमित्तक ही हैं।[3]

---

१. बिम्बप्रतिबिम्ब कल्पनोपाधिचैवजीववादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तःकरणान्येव।.... ....उपाधिकृतदोशाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव.............। वही, पृ. ३५६-३५७

२. अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुखित्वाभिमानित्वे लोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। वे.सा.,पृ.९५

३. लक्षणभेदोप्यनयोरूपाधिनिमित्त एव। ब्र.सू.शां. भाष्य, पृ. ५६७

ईश्वर और उसका स्वरूप :-

वेदान्त परिभाषा में ईश्वर के स्वरूप का आख्यान करते हुए कहा गया है कि मायाविच्छिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। माया जब चैतन्य में विशेषण होती है तब चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि होती है तब उसमें साक्षित्व होता है। किन्तु ईश्वर एक होने पर भी उसकी उपाधिभूतमाया में रहने वाले सत्व, रज, तम, इन गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर शब्दों की वाच्यता पाता है।[1]

सदानन्द योगीन्द्र ने भी ईश्वर के स्वरूप-निर्धारण में इसी तरह से अपना भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि अज्ञान व्यष्टिगत और समष्टिगत होने से दो प्रकार का होता है। यह समष्टिगत अज्ञान ही जब चैतन्य को अभिभूत करता है तब यह चैतन्य सर्वज्ञाता, सर्वनियन्ता आदि गुणों से व्यक्त किया जाने वाला लगता है। इसी चैतन्य को जगत् का कारण और ईश्वर पद से कहा जाता है।[2]

---

१. मायाविच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायया: विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्, उपाधित्वं साक्षित्वमिति.................... ।
सर्वपरमेश्वर: एकोपि स्वोपाधिभूत मायानिष्ठसत्वरणस्तयो: गुणा: तेषां भेदेन................. । वही, पृ. ९२

× × × × × × × × × × × ×

सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्यकाम।
संसज्ञा याति भाग्यानेक एव जनार्दन: ।। वि.पु., पृ. ५५

२. एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वाधिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर व्यपदिश्यते। वे.सा., पृ. ७८

भगवान् शङ्कराचार्य जब ईश्वर की अवधारणा को स्वरूप प्रदान करते हैं तो लिखते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं। एक है नाम, रूप आदि के विकारों की उपाधि से विशिष्ट और दूसरा है इन उपाधियों के भेद से विपरीत सर्व उपाधिरहित। तब अविद्या के कारण, अविद्या की अवस्था में उस ब्रह्म में उपास्य और उपासक का व्यवहार होता है। किन्तु यह भी उन-उन गुण विशिष्टों से विशिष्ट होकर ईश्वर उपास्य बनता है। इसी का समर्थन श्रीमद्भगवद्गीता में भी किया गया है। इसमें भी जहाँ-जहाँ विभूति आदि का अतिशयत्व होता है, वहाँ-वहाँ ईश्वर उपास्य के रूप में कहा जाता है।[1]

---

१. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूप विकारभेदोपाधिविशिष्टं,
तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।......................
तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः।
............यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपातया चोक्ते।

ब्र.सू.शां.भा., पृ. ९०

× × × × × × × × × × × ×

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तं तमैवेति कौन्तेय सदा सद्भावभावितः।।

× × × × × × × × × × × ×

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशंसम्भवम्।। भ.गी.,पृ. १३६, १७२

ईश्वर की विभुता :-

परमेश्वर का वैभव अनन्त है। वह अकेला है किन्तु अपनी माया रूपिणी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन करता है। वह अपने जाल से अर्थात् संसार का नियमन करने में अकेले ही सक्षम है। जाल से जालवान् शब्द की व्याख्या में आचार्य शङ्कर मायावी की शक्ति कहते हैं, उसकी यह मायावी शक्ति सारे संसार का नियमनकरने में समर्थ दिखाई देती है।[1] इस पर आचार्य शङ्कराचार्य का यह प्रतिपादन है कि मायावी ईश्वर की वह परम शक्ति माया शक्ति ही है, जिसके अर्थ गवाक्ष,रन्ध्र,छिद्र आदि होते हैं। विज्ञान भगवान् और उपनिषद् ब्रह्मयोगी का मन्तव्य है कि परमेश्वर की यह शक्ति जीवरूपी मत्स्य को अपने दुर्भेद्य जाल में फसाती है। आचार्य शङ्कर श्रीमद्भगवत् गीता का सन्दर्भ देकर (मम माया दुरत्यया) इसे माया कहते हैं।

उपनिषद् के मूल वाक्य में "ईशनीभिः" पद पर भी आचार्यगण अपने-अपने मत देकर ईश्वर की विभुता का संकेत करते हैं। शङ्करानन्द "दर्शन" शक्ति में आवरण और विक्षेप शक्तियों का योग मानते हैं। नारायण भगवान ईश्वर की 'ईशत्व' शक्ति में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का योग मानते हैं।

---

१. य एकः परमात्मा स जालवान् जालं माया दुरत्यत्वात् ।..................
जालवान् मायावीत्यर्थः ईशत ईष्टे मायोपाधिः सन् । कैः ?
ईशनीभिः स्वशक्तिभिः। तथा चोक्तम्-ईशत् ईशनीभिः परमशक्तिभिरिति।
सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः। श्वे., पृ. ११४

आचार्य शङ्कर ईश्वर की 'ईशनीभिः' शक्ति से परमात्मा की परमशक्ति का अर्थ ग्रहण करते हैं।[1]

इसी उपनिषद् में परमात्मा की विभुता इस रूप में भी कही गई है कि इस अद्वितीय परमात्मा से ही सर्वसृष्टि व्याप्त है क्योंकि वही इसमें सर्वत्र है।[2]

आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में लिखते हैं कि उस परमात्मा ने स्वयम् रचे हुए संसार मण्डल को व्याप्त कर रखा है और वह शील आदि औषधियों में तथा अश्वत्थादि वनस्पतियों में भी विद्यमान है।[3] पुराणों में भी ईश्वर के इस प्रकार के वैभव का कथन किया गया है, जिसमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य के सम्पूर्णता के साथ होने के कारण भगवान् पद सार्थक कहा गया है।[4]

एक अन्य स्थान पर आचार्य शङ्कर यह लिखते हैं कि उस परमेश्वर के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु दौड़ती है। यदि ईशन शील समर्थ लोकपालों का कोई नियन्ता न होता तो नियमित कार्य प्रवृत्ति कैसे होती है?[5]

---

१. श्वे., पृ. ११४-११५ पर हिन्दी - अर्थ
२. वही, पृ. १२६
३. यो विश्वं भुवनं स्वेविरचितं संसारमण्डलमाविवेशं। य औषधीषु शील्यादिवनस्पतिष्वश्वत्थादिषु तस्मै विश्वात्मने भुवनमूलाय परमेश्वराय नमः।
वही, पृ. ११२
४. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्रियः।
ज्ञानवैरागयोश्चैवब्रह्मणा भग इतीरणा
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि।
सत्य भूत्यशेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः। वि.पु., पृ.३८४
५. शाङ्कर भाष्य, पृ. १३६

संसार रचना में ईश्वर की कारणता :-

ईश्वर सृष्टि का रचनाकार है भी अथवा नहीं, इस विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न किये गये हैं। कहा गया है कि ईश्वर यदि सृष्टि की रचना करता है तो उसका अभिप्राय क्या हो सकता है, क्योंकि वह अभिप्राय निरपेक्ष है यदि वह निष्प्रयोजन सृष्टि की रचना करता है तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं होगा क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी कार्य मन्द बुद्धि-वाला भी नहीं करता है। इसके समाधान में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि ईश्वर द्वारा सृष्टि में प्रवृत्त होना संगत हो सकता है क्योंकि उसके द्वारा ऐसा किया जाना निसंगत नहीं है। अपने इस मन्तव्य के समर्थन में आचार्य यह कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कारण है, यह अर्थ श्रुतिगत स्वशब्दों द्वारा सुना जाता है। इसलिए आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं कि प्रधान आदि कोई अन्य जगत का कारण नहीं हैं।[1]

ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना का क्या प्रयोजन है, इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जैसे लोक समर्थ राजा अथवा उसके मंत्री की विविध कार्य-योजनायें केवल लीला रूप में प्रवृत्त होती हैं और उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता है अथवा जैसे स्वास-उच्छवासादि स्वभाव से ही चलते हैं उसी तरह से ईश्वर की प्रवृत्ति भी केवल लीलारूप में ही होती है।[2]

---

१. स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगत: कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं.इति। ब्र.सू.शां., पृ. ८९

२. यथा लोके कस्यचिदास्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यरूप वा व्यतिरिक्ततं किंचितप्रयोजनमभिसन्धाय केवलं लीलारूपा: प्रवृत्तय: क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा... .....एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचितप्रयोनानन्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भवतीति। वही, पृ. ४३६

श्वेताश्वतर उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के प्रथम मन्त्र के व्याख्यान में श्री आचार्य शङ्कर ने यह निरूपित किया है कि वह एक अद्वितीय परमात्मा वर्णरहित और जातिरहित है। अपनी अनेक शक्तियों से वह अनेक वर्ण और जाति वाली सृष्टि निष्प्रयोजन होकर करता है और फिर उसी सृष्टि को अपने अन्दर लीन कर लेता है।[1]

एक अन्य स्थान में "तदैक्षत बहु रूपां प्रजायेम" तथा "सोऽकामयत बहु त्यां प्रजायेम" का उदाहरण देकर यह निरूपित किया गया है कि घटादि प्रपंच की उत्पत्ति के समय परमेश्वर उत्पाद्य प्रपंच की विचित्रता के कारण बनाने वाले प्राणिकर्मों की सहायता से एवं अपरिमित, अनिर्वाच्य विशेषण शक्ति रूप माया से युक्त होकर प्रथमतः नामरूपात्मक समस्त प्रपंच का बुदि से आकलन करता है और यह उत्पन्न करूँगा ऐसा संकल्प करता है।[2] और इस रूप में निरूपित किया जाता है कि संसार के निर्माण की इच्छा उसने की और फिर नाम रूपात्मक जगत् का निर्माण किया।

---

१. य एको द्वितीयः परमात्मावर्णो जात्यादिरहितो निविशेष इत्यर्थः। बहुधानानाशक्तियो रूर्णाननेकान्निहितार्थो ग्रहीतप्रयोजनः स्वार्थनिरपेक्ष इत्यर्थः। दधाति विदधात्यादौ। वही, पृ. १४२

२. अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते-तत्र सर्गापकाले परमेश्वरः सृज्यमानप्रपञ्च वैहेतुप्राणिकर्म सहकृतो परिमिता निरूपित शक्ति विशेषविशिष्ट मायासहितः सन्नामरूपात्मक निखिलप्रपंच प्रथमं बुद्धाबादलवद् करिष्यामीति संकल्पयति। वे.प., पृ. ३३४

ईश्वर इस सृष्टि का निर्माता है यह तो और भी अनेक उदाहरणों तथा प्रमाणों से सिद्ध होता है। इसके साथ ही साथ जब यह प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है कि वह ईश्वर इस संसार की उत्पत्ति में उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण। तब इसके समाधान में भी आचार्य शङ्कर अपने तर्क देते हैं और निरूपित करते हैं कि वह ईश्वर इस सृष्टि के निर्माण में उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है।

आचार्य इस संबंध में यह तर्क देते हैं कि जैसे घट, रूपक आदि के उपादान कारण मिट्टी और स्वर्णादि होते हैं तथा कुम्भकारादि इसके निमित्त होते हैं तद्वत् परमात्मा में उभय कारणत्व की सिद्धि होने से ही प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अबाध परिलक्षित होता है। प्रतिज्ञा यह है कि जिसके सुनने से सब श्रुत होता है और जिसके ज्ञात होने से सब ज्ञात होता है तथा दृष्टान्त यह है कि जैसे भूमि में सभी औषधियाँ होती हैं, उसी तरह से ब्रह्म में उभय विधि कारणता को सिद्धि किये जाने पर ये दोनों सिद्ध होगें। इसी तरह से जगत् उत्पन्न होने के पूर्व एक परमेश्वर ऐसा न स्वीकार किये जाने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का परस्पर विरोध होगा क्योंकि परमात्मा स्वरूप उपादान से अन्य अधिष्ठाता को स्वीकार करने पर भी एक के विज्ञान से सबके विज्ञान का असम्भव होने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का बाध होगा।[1] आचार्य सदानन्द योगी ने इसी की इस प्रकार से व्याख्या की है कि ब्रह्म (परमेश्वर) उपादान और निमित्तकारण दोनों हैं।[2]

---

१. ब्र.सू.शां.भाष्य, पृ. ३५४-३५५

२. यथा लूता तन्तुकार्य-प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।
वे.सा., पृ.८९

आत्मा और उसका स्वरूप :-

आत्मा की स्वरूप सिद्धि के लिए आचार्य शङ्कर के उस कथन से प्रारम्भ किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि आत्मा की सिद्धि के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है अपितु वह तो स्वयं प्रमाण द्वारा सिद्ध है। यदि आत्म-सत्ता का ज्ञान सभी को नहीं होता तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान सभी को होता। किन्तु जिस आत्मा को सब लोग 'मैं' इस प्रकार देहादि के रूप में अविवेक पूर्ण रूप से जानते हैं वही विविक्त साक्षी स्वरूप आत्मा है। यही आत्मा ब्रह्म है।[१]

आचार्य यहाँ पर आत्मा की सिद्धि बिना किसी प्रमाण के करते हैं और आत्मा के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी दृष्टि से यदि हम उन-उन स्थलों को देखें जहाँ-जहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ इस आत्मा के स्वरूप के लिए इसकी नित्यता, शुद्धता, बोधित्व, मुक्ततादि का कथन किया गया है। और यह कहा गया है कि यह वेदान्त विद्वानों की अनुभूति है कि यह चैतन्य रूप आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभावी है।[२]

---

१. सर्वस्यात्मत्वाच्य ब्रह्मस्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाह्मस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाह्मस्मीति। प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। ब्र.सू. शाङ्कर भाष्य, पृ. ११

२. अतस्तत्तद्भासक नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वद्नुभवः। वे.सा.,पृ. ११९

कठोपनिषद् जब कहती है कि यह न जन्म लेता है न मरण होता है, न कहीं से इसका उद्भव होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत है। तब आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में विस्तार से यह लिखते हैं कि आत्मा न किसी से न कहीं से उत्पन्न होती है और न स्वयम् से ही अर्थान्तर रूप से हुआ है। यह आत्मा अज, नित्य और शाश्वत है क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण होता है किन्तु यह शाश्वत और पुराण भी है।[1]

इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि जो कोई इस आत्मा को वर्तमान, भूत भविष्यत् कालिक जानकर यह भी जानता है कि यह त्रिकाल का शासन है तो वह कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता और अभय की स्थिति में रहता है। जब तक वह आत्मा को अनित्य मानता है तब तक वह आत्मा की रक्षा करना चाहता है किन्तु जैसे ही वह उसे नित्य-अद्वैत जान लेता है वैसे ही यह भी जान लेता है कि कौन किसकी रक्षा करने वाला है।[2]

---

१. स्वस्माच्यात्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरिभूतः। अतो यमात्माजो नित्यः शाश्वतो पक्षविर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सा पक्षीयते, अयं तु शाश्वतो त एव पुराणः पुरापि नव एवेति। यो ह्यवयवोयक्यद्वादेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः। तद्विरीतस्त्वात्मा पुराणो बुद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे तत्स्थौऽप्याकाशवदेव। क.शां.भाष्य, पृ. ६१

२. यदातु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत्। एतद्वैतदिति पूर्ववत्। वही, पृ. १००

एक स्थान पर आचार्य ईश्वर और आत्मा पद का प्रयोग साथ-साथ करते हैं और यह निरूपित करते हैं कि सर्वगत परमेश्वर एक है क्योंकि वह सर्वभूतमात्र का अन्तरात्मा है। वह अचिन्त्य, शक्ति-सम्पन्न, नित्य, एक रस विशुद्ध विज्ञान स्वरूप अपने नाम- रूपादि उपाधिभेद से स्वयं को बहुत प्रकार से कर लेता है। उस आत्मस्वरूप, शरीरस्थ, हृदयाकाश बुद्धि में चैतन्यरूप से अभिव्यक्त आत्मा का जो विवेकी पुरुष अनुभव कर लेते हैं उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

इस उदाहरण में आचार्य ने और स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख का आधार दर्पण नहीं है उसी प्रकार से आत्मा का आधार शरीर भी नहीं है। धीर और विवेकी पुरुष उस ईश्वर-आत्मा को देखते हैं, आचार्य और शास्त्र के उपदेश के अनन्तर नित्य सुख का अनुभव करते हैं।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में आचार्य यह कहते हैं कि हृदय कमल के अन्दर स्थित आत्मा यवादि से भी सूक्ष्म है, श्यामक तण्डुल से भी सूक्ष्म है और यह हृदयकमल में अवस्थित आत्मा पृथिवी से भी बड़ी है। इस प्रकार वह इन दोनों की अपेक्षा अतिशय है।[2]

---

१. सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्ध विज्ञानरूपं नामरूपापशुद्धो-पाधिमंदवशेन बहुधानेक्प्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामाद्वेमाचिन्त्यशक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशं बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत्।...........। तमेतमीश्वरमात्मानं...............परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवन्ति। क.शां.भाष्य, पृ. १२६, १२७

२. एव यथोक्त गुणो में ममात्मान्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकस्यान्तर्गतिऽणीयाननुतरो........ एवम आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्यपृथिव्या इत्यादिना। छा.उ., शाङ्कर भाष्य,पृ. ३११

इसी तरह से जब उपनिषद् मूल रूप से आत्मा को सर्वर्था, सर्वगन्धा, सर्वकामा, सर्वरसः, सर्वव्यापक कहती है तो आचार्य शङ्कर इसी आत्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग कर देते हैं और यह कहते हैं कि पूर्वोक्त गुणों से लक्षित होने वाले ईश्वर का ही ध्यान करना चाहिए।[1]

एक अन्य स्थान पर भी आचार्य शङ्कर ने जिस रूप का निरूपण किया है, उसके अनुसार आत्मा, आप्नुवन के कारण आत्मा है। सर्वशक्तिवान् तथा संसार के सभी धर्मों से विवर्जित है। यह आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावी और अजर तथा अमर है। उत्पत्ति के पूर्व यह सब कुछ जगत् अव्याकृत था बाद में नाम रूपात्मक भेद से व्याकृत हुआ।[2]

---

१. यथोक्त गुणलक्षण ईश्वरो ध्येयो न तु तदगुणविशिष्ट एव।

वही, पृ. ३१२ पर शाङ्कर भाष्य

२. आत्मा आत्नोतेस्तेरततरेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धमुक्तस्वभावो यो जरोऽमराऽमृतो भयो द्वयो वै।.................प्रागुत्पत्तेः अव्याकृत नामरूपभेदमात्मभूतमात्मैक्शब्द प्रत्ययगोचरं जगदिदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैक शब्द प्रत्ययगोचरं-चेति विशेषः।

ऐ.उ.शां. भाष्य, पृ. १७

आत्मा का सृष्टिकारणत्व :-

प्रश्नोपनिषद् में प्रारम्भ में ही यह प्रक्रम है कि भरद्वाज नन्दन सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्र में उत्पन्न हुआ कौसल्य, विदर्भदेशीय भार्गव और कवन्धी अपर ब्रह्म की उपासना करने वाले भगवान् पिप्पलाद के पास गए और प्रश्न किया हे भगवन् ! यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है।[१] और इसके उत्तर में सम्पूर्ण उपनिषद् परम्परा इस पर विचार करने का प्रयत्न करती है। सर्वप्रथम इसी उपनिषद् में एक स्थान पर प्रश्न-प्रति प्रश्न के क्रम में आचार्य शङ्कर यह निरूपित करते हैं कि जिस प्रकार आत्मा में भोक्तृत्वादि सिद्ध किया जाता है उसी तरह आत्मा में अकर्तृत्व भी निरूपित हो सकता है।[२]

बृहदारण्यक उपनिषद् सृष्टि के आदि क्रम का निरूपण करती हुई कहती है कि उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष शिर, पाद आदि वाला विराट् आत्मा ही था। जब उसने आनन्द का अनुभव नहीं किया तो उसने दूसरे अर्थात् स्त्री की कामना की। और इस प्रकार वे पति-पत्नी बने। इसीलिए शरीर द्विदल अन्न के समान है अर्थात् अकेला पुरुष अकेला द्विदल के समान है।[३]

---

१. प्र.उ., पृ. १३

२. तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्येण ईक्षापूर्वक कर्तृत्ववचनम्, सत्वादिगुणसाम्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुसत्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभादात्मन आत्मन्यनर्थेकर्तृत्वानुपपत्तेश्च। वही, पृ. १०८

३. ई.द्वा.उ., पृ. २७५-२७७

कठोपनिषद् कहती है कि जिसप्रकार से सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो जाता है उसी प्रकार से सभी भूतों में एक ही अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है और उससे बाहर भी है।[1]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है वहाँ पर कहीं ईश्वर को सृष्टि के कारण के रूप में ईश्वर पद से व्यवहृत किया गया है, तो कहीं पर आत्मपद का व्यवहार किया गया है। एक स्थान पर जब यह कहा गया कि एक ही देव है जो सर्व व्यापी अन्तरात्मा है तो आचार्य शङ्कर ने उसकी व्याख्या में यह निरूपण किया कि वह सर्वव्यापी सर्वभूतों का अन्तरात्मा है। कर्माध्यक्ष होने से सभी प्राणियों के कर्मों जो चित्र-विचित्र हैं, का अधिष्ठाता है।[2] एक अन्य स्थान पर आत्मा को सर्वयोनिः कहकर उसके सृष्टिकरणत्व को स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है।[3] इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि आत्मपद का व्यवहार और उससे सृष्टि की कारणता का कथन स्थान-स्थान पर किया गया है।

---

१. अग्निर्यथको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। वही, पृ. १२२
एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मवाद्दार्वादिष्विव सर्वेदेवं प्रति प्रविष्टत्वात्पतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत्।
वही, पृ. १२३ पर शाङ्करभाष्य

२. सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वस्यभूत इत्यर्थः। कर्माध्यक्षः सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता।
वही, पृ. २०४ पर शाङ्करभाष्य

३. आत्मा चासौ योनिश्चेत्यात्मायोनिः।.............................।
सर्वस्यात्मा सर्वस्य च योनिः सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थः।
वही, पृ. २१० पर शाङ्करभाष्य

आत्मा का बन्ध और मोक्ष :-

वेद शास्त्र की परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विधि पुरुषार्थो को स्वीकार किया गया है। इसमें भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है-ऐसा प्रसिद्ध है।[१] अपने इस मूल प्रतिपादन के समर्थन में आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् के दो उदाहरण दिए हैं जिनसे एक उदाहरण में यह कहा गया है कि "वह आत्मज्ञ पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता"।[२] इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता ज्ञात होती है। इसी तरह से मोक्ष के अतिरिक्त (धर्म,अर्थ,काम) तीन पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष से तथा श्रुति से ज्ञात होती है। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि जैसे इस लोक में कृष्यादि कर्म से सम्पादन किया हुआ धान्यादि लोक फल क्षीण होता है उसी प्रकार से परलोक में पुण्यरूप अदृष्ट से सम्पादन किया हुआ स्वर्गलोकादि भी क्षय को प्राप्त होता है।[३] इससे कर्म-फल की अपलिप्यता प्राप्त होती है।

---

१. इह खुल धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधिपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थ: ।

वे.प.,पृ.६

२. तद्वैतद्ब्रह्मा प्रजापतय:.............................

ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। छा.उ.,पृ. ९४३

३. तद्यथेह कर्मजितो लोक: क्षीयत ऐवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक: क्षीयते। वही, पृ. ८१९

मुक्ति को ज्ञान से साध्य कहा गया है। क्योंकि उसी को जानकर जीव मृत्यु से पार जाता है। इस कथन को भी उपनिषद् के इस वाक्य से समर्थित किया गया है जिसमें यह कहा गया कि उसे जानकर मनुष्य मृत्यु से पार जाता है और कोई दूसरा मार्ग इससे भिन्न नहीं है।[1]

आत्मा कैसे बन्धन में आती है इसके सम्बन्ध में वेदान्तसार आवरण और विक्षेप नामक अविद्या की दो शक्तियाँ स्वीकार करता है और यह प्रतिपादित करता है कि जिस प्रकार लघु मेघ का खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित, अजन्मा, असांसारिक आत्मा को आवृत कर देता है। यही शक्ति आवरण शक्ति कही जाती है।[2]

---

१. वे.प., पृ. ३८४

× × × × × × × × × × × ×

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेयनाय। श्वे., पृ. १२५

२. आवरणशक्तिस्तावदल्योपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलभवलोकयितुनयन-पथपिद्यायक्तया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नामप्यात्मानमपरिच्छिन्न-मसंसारिणमवलोकयितुबुद्धिपिद्यायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।

वे.सा.,पृ. ८७

इस क्रम में आत्मा किस प्रकार बद्ध अनुभव करता है इसके लिए कहा गया है कि जिस प्रकार मेघ से आछन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है उसी भाँति जो साधारण दृष्टिवान् लोगों को जन्म मरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है ऐसा वह नित्य एवम् उपलब्धि स्वरूप अहम् या आत्मा है।[1] इसी आवरणशक्ति से आवृत आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, मोहादि का अवभास होने लगता है। जैसे स्व अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व का भाव प्रतिष्ठित होता है।[2] यही आत्मा का बन्धन है।

आचार्य सदानन्द योगीन्द्र विक्षेप शक्ति के सन्दर्भ में यह कहते हैं कि जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादिक रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि की उद्भावना के समान अज्ञानावृत आत्मा में ही आकाशादि प्रपंच की उद्भावना कराता है वही ऐसी शक्ति है क्योंकि विशेष शक्ति ही लिंग से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त संसार की रचना करती है।[3]

और इस रूप में इन उभय शक्तियों से जो जीव तथा आत्मा का पार्थक्यभाव है उसके मध्य में अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति मुक्ति की अवस्था है।[4]

---

१. घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः।
तथा वद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः सत्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा।। वे.सा., पृ. ८७

२. वही, पृ. ८७

३. विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्जवज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावत्येमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चादिमुद्भावयति तादृशंतदुकृत्तम्विक्षेप-शक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति। वही, पृ. ८८

४. तदैवतप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः तत्स्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतेश्च।
वही, पृ. ६९, क.उ.शाङ्कर भाष्य, पृ. १२५

अविद्या के कारण आत्मा बन्धन युक्त है और यह बन्धन की ग्रन्थि तभी छूटती है जब पुरुष आचार्य और शास्त्र से पुरुष की अव्यक्तावस्था को जान लेता है और यह जानकर वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[1]

एक अन्य स्थान पर आचार्य यह लिखते हैं कि अविद्याजनित प्रतीति यह शरीर मैं हूँ, यह धन मेरा है, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इत्यादि प्रकार के अनुभव के अविद्या प्रत्यय हैं। उसके विपरीत ब्रह्मात्मभाव के अनुभव की उत्पत्ति से मैं "असंसारी ब्रह्म हूँ" ऐसे तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्याजनित ग्रन्थियों के विनष्ट हो जाने पर निमित्तक कामनाएँ भी मूलतः नष्ट हो जाती हैं तब वह मर्त्य अमर हो जाता है।[2]

ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में आचार्य शङ्कर ने मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म, जिसके लिए आत्मपद का भी व्यवहार होता है, की अभिन्नता को कहा है और यह कहा है कि वह उत्तम पुरुष है इत्यादि ब्रह्मरूपता की उक्ति से वह ब्रह्मरूप से अभिन्न है।[3] इसी तरह से "अवमार्गेन दृष्टत्वात्" सूत्र के भाष्य में भी आचार्य ने श्रुति प्रमाण देकर मुक्तावस्था की अभेद स्वरूपावस्थिति के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।[4]

---

१. क.उ. शाङ्कर भाष्य, पृ. १४२-१४३

२. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्यबुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थियो ग्रन्थियद् दृढ़बन्धनरूपा अविद्या प्रत्ययया इत्यर्थः। ....ब्रह्मवैवाहमस्मि अंससारीति विनष्टष्वविद्याग्रन्थिसुतन्निमिक्षाः कामा मूलतो विनश्यन्ति।

क.उ., शाङ्कर भाष्य, पृ. १५२-१५३

३. ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरूपचारतः। वही, पृ. १०५८

४. वही, पृ. १०५८,७२३ - ७२४

× × × × × × × × × × × ×

नित्यःसर्वज्ञः सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।

वही, पृ. ४२

आत्मा तथा ब्रह्म का ऐक्य :-

"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या नेह नानास्ति किंचन" इस कथन का इतना अधिक प्रभाव है कि लगभग सभी यह जानते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है और यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् कुछ भी सत् नहीं है। पर यह सद्रूप ब्रह्म जब आत्मा रूप से वाच्य होता है अथवा इसे जीवात्मा के रूप में जाना जाता है, तब यह कहा जा सकता है कि यह एक, सबका नियन्ता, सभी का अन्तरात्मा, स्वयम् को ही नाना रूपों में कर लेता है।[१] तब यह ब्रह्म, पुरुष, अक्षर, 'ज्ञ', परमात्मा, परमेश्वर जीवादि रूप से कहा जाने लगता है। किन्तु जब उस ब्रह्मातिरिक्त जीव की ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं तो वह ब्रह्म ही हो जाता है।[२]

किन्तु उपनिषदें अपने मूल कथन में कहीं-कहीं ब्रह्म और आत्मा की साम्यता का कथन करती हैं और कहीं-कहीं इन दोनों की विषमता का कथन भी करती हैं। आचार्य शङ्कर भी अपने भाष्य में इसी रूप में ब्रह्म और आत्मा का आख्यान करते हुए देखे जा सकते हैं। जैसे ब्रह्म के सर्वकर्मत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि यह मेरी आत्मा हृदयकमल के मध्य में स्थित है। यही ब्रह्म है जिसे इस शरीर से मरकर मैं इसी को प्राप्त करूँगा। इस कथन में आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता का कथन स्पष्टरूप से किया गया है।[३]

---

१. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा करोति। क.उ., पृ. १२६
२. वही, पृ. १५१
३. सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:............................एकम आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमित: प्रत्याभिसंभवितास्मीति.........................। छा.उ., पृ. ३१२

आचार्य शङ्कर इसके व्याख्यान में यह कहते हैं कि यहाँ पर यद्यपि आत्मा से प्रत्यात्मा का ही निरूपण नहीं किया गया है किन्तु "गम" शब्द के प्रयोग से सम्बन्धार्थ की प्रतीति होती है और इससे ब्रह्म और आत्मा के कर्मत्व तथा कर्तृत्व का निर्देश किया गया है।[1] इसी तरह से जब आचार्य सूक्ष्म-सूक्ष्मतर आत्मा का उपदेश करते हैं तो यह कहते हैं कि जो नेत्र में दिखाई देता है वह प्राणियों की आत्मा है यह अमरण धर्मा, अविनाशी और अभय है इसी से यह ब्रह्म अर्थात् ब्रहत् तथा अनन्त है।[2] इस कथन में हम देखते हैं कि ब्रह्म और आत्मा की साम्यता कथित है तथा उपनिषद् और उसके भाष्यकार आचार्य का स्वर एक जैसा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि वह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनमय है, प्राणमय है। इस मूल उपनिषद् के कथन का आचार्य शङ्कर भी तथैव अपना भाष्य प्रस्तुत कर देते हैं।[3]

---

१. न त्वात्मशब्देन प्रत्यगात्मैवोच्यते, ममेति यष्ठ्या : सम्बन्धार्थप्रत्ययाकत्वात्। एतत् अभिसंभवितास्मीति च कर्मकर्तृत्वनिर्देशात्। छा.उ., पृ. ३१३ पर शाङ्करभाष्य

२. एव आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतब्रह्मेति। वही, पृ. ४२०, ६७१, ८८२

× × × × × × × × × × × ×

एव आत्मा प्राणिनामिति होवाचैवमुक्तवानेतद्यदेवात्मतत्त्वमवोचाम एतदमृतममरण-धर्म्यविनाश्यत एवाभयं यस्य हि विनाशाशका तस्य भयोपपादितस्तद्भावादभयमत एवेतद् ब्रह्म बृहदनन्तमिति। वही, शाङ्करभाष्य, पृ.४२१

३. ई.द्वा.उ.,पृ. ३७२, छा. उ., पृ. ६४० पर शाङ्करभाष्य

वेदान्त परिभाषा में तो ब्रह्म और आत्मा को पृथक्-पृथक् रूप में कहा गया है और इसमें अपने प्रयोजन परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि इस ज्ञान का लक्ष्य है- ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य।[1] इस कथन से स्पष्ट ही यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और आत्मा दो पृथक् तत्त्व हैं और इनके स्वरूप विवेचन में भिन्नता है फिर चाहे भले ही ये जीव और ब्रह्म हों तथा अविद्या के कारण जीव में ब्रह्म पार्थक्य का आभास हुआ हो।

किन्तु इस प्रकार के कथन करने के पश्चात् भी परम सत्य के रूप में जो कहा गया है तदनुरूप आत्मा और ब्रह्म का पार्थक्यकथन केवल संवृत्ति सत्य में ही हो सकता है, परमार्थसत् अर्थात् मुक्ति की अवस्था में इसका भेद कथन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए आचार्य शङ्कर ने मूल श्रुतियों का उदाहरण देकर यह कहा है कि मुक्तिरूप अवस्था सभी वेदान्तों में एक सदृश ही कही गई है। इसलिए ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है और ब्रह्म का अनेक आकार के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए यह सर्वाधार आत्मा नेति नेति करके कहा गया है।[2]

---

१. तच्चज्ञानं ब्रह्मैक्यगोचरम्। वही, पृ. ३८४

× × × × × × × × × × × ×

२. न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवभूतो विशेषप्रतिनियम आशक्तिव्यः। कुतः। तदवस्याबध्यतेः। मुक्तावस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकस्यैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्तावस्था, न च ब्रह्मणोंकारयोगोस्ति। ब्र.सू. शाङ्कर भाष्य, पृ. ९५२

ब्रह्म का स्वरूप :-

ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र ही इस बात का प्रमाण है कि वेदान्तदर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म की जिज्ञासा करना है। जिस ब्रह्म की जिज्ञासा करने पर शम, दम, तितिक्षादि से मनुष्य उसका साक्षात्कार करने की ओर प्रवृत्त होता है तथा यमयागादि से प्राप्त पुण्यफलों की अनित्यता को जान लेता है।[१]

उपनिषदें इसी विचार का आधार आचार्य शङ्कर को देती हैं और लगभग इसी प्रकार से वे भी अपना ब्रह्म स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। केनोपनिषद् में जब ब्रह्म के स्वरूप का उपन्यास किया गया है तो यह कहा गया है कि वह चैतन्य सत्ता जो वाणी से प्रकाशित नहीं होती, मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता, नेत्र से जिसे कोई देख नहीं सकता, श्रोत्र से जिसे कोई सुन नहीं सकता और घ्राण जिसे अपनी घ्राणात्मक शक्ति से विषय नहीं करता उसे ही तू ब्रह्म जानना इसके विपरीत जो देश-काल परिच्छिन्न वस्तु की उपासना करते हैं, वे ब्रह्म स्वरूप को नहीं जानते।[२]

---

१. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। ब्र.सू., पृ. १९

× × × × × × × × × × × ×

किंचतमात्मानं ज्ञात्वेव पापातममकेन बन्धनपदेन कर्मणने लिप्यते तस्यमादेवं विवेकादिवान् पुरुषः शमादियुक्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितोशुद्धि भूत्वा निजबुद्धावेवात्मानं सर्वात्मस्वरूपमेव पश्यति, अतश्चेत सः शुद्धि विधाय शमादिकं सम्पशमादिकं सम्पाय कर्मफलानित्यत्वं ज्ञानफलस्य नित्यत्वं च निश्चित्य अथ तदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। तथा विचारं सम्पाद्य ज्ञानं लब्धवा ब्रह्मात्मना स्थातव्यमिति।

शाङ्कर भाष्य, वही, पृ.२०

२. ई. द्वा. उ., पृ. ६-७

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर अक्षर के रूप में ब्रह्म का आख्यान करते हुए मुण्डकोपनिषद् कहती है कि वह ब्रह्म दिव्य, आकार रहित, पुरुष, भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परिनिष्ठित और श्रेष्ठ है। यह पुरुष, विश्व, कर्मतप सभी परब्रह्मरूप ही है। जो इसे सभी की हृदयरूप गुहा में अवस्थित जानता है वह अविद्या-ग्रन्थि का छेदन कर डालता है।[1]

एक अन्य उपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् यह प्रतिपादन करती है कि आकाश रूप से प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। यह यज्ञ संज्ञक भी है। इस पर आचार्य शङ्कर अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में आत्मा ''आकाश'' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मा ब्रह्म नाम और रूप के अन्तर में भी है उससे असंवृत भी है। इसी प्रकार वह ब्रह्मतत्त्व चिन्मात्र की अनुमति होने से चिद्रूप भी है।[2]

---

१. दिव्योह्यमर्त: पुरुष: सवाह्याभ्यन्तरो यज:।
अप्राणो ह्यमना: शंभो ह्यक्षरात्परत: पर:।।
× × × × × × × × × × × ×
पुरुष एवेदं विश्वं कर्मतपो ब्रह्म परामृतम्।
एतयो वेद निहितं गुहायां सो विद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।

ई.द्वा.उ., पृ. ५९,६१

२. आकाशो वे नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा: आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च।........
................। ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्रह्मणोन्तरा वर्तते तयोर्वानामरूपयोरन्तरा मध्येयन्नामरूपाभ्यांरूपाभ्यामस्पष्टं यदि त्येतत्तद् ब्रह्मरूपविलक्षणं नामरूपाभ्यामस्पष्टं तथापि तयोर्निर्विदिवलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थ:।

छा.उ., शाङ्करभाष्य, पृ. ९३९, ९४०

एक अन्य स्थान पर आचार्य शङ्कर ने आत्मा किं वा ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है और यह निरूपित किया है कि आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। विश्व की किसी भी शक्ति से अबाधित तीनों काल में एक रूप से विद्यमान शक्ति को सत् कहते हैं। "चित्" शक्ति अन्य साधनों की अपेक्षा के बिना स्वयम् प्रकाशमान होते हुए अपने में ही सभी पदार्थों को आरोपित करने वाली तेजस्वी शक्ति है। आनन्दरूप उसे कहते हैं जो परमप्रेमास्पद है, नित्य है, निरतिशय प्रसन्नता का प्रतीक है। ब्रह्म नित्य है, विशिष्ट प्रज्ञाशाली है, आनन्द स्वरूप है, प्रसन्नता प्रदान करने में निरत है-ऐसा नित्य, बुद्ध, शुद्ध और मुक्त स्वभाव है।[1] इस रूप में ब्रह्म का निरूपण जिस प्रकार से किया गया है उससे यह प्रतिपादित है कि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आनन्द रूप और मुक्त स्वभावी है। यह सत्, चित्, तथा आनन्द का समन्वित स्वरूप है।

---

१. इदानीमात्मनः सच्चिदानन्दस्वरूपत्वमुच्यते। सद्रूपत्वं नाम केनाप्यबाधमानकत्वेन कालत्रयेप्येकरूपेण विमानत्वमुच्यते। चिद्रूपत्वं नाम साधनान्तरनिरपेक्षतया स्वयं प्रकाशमानः सन् स्वस्मिन्नारोपित सर्वपदार्थज्ञवभासकत्व स्तुत्वं चिद्रूपत्वमित्युच्यते। आनन्दस्वरूप नाम परमप्रमारूपदत्वं नित्यनिरतिशयत्वमानन्दत्वमित्युच्यते। नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्मरातिदातः परायणमिति श्रुतेः। एवम् नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावमिति। आ.वि., पृ. ४७

एक अन्य उपनिषद् में ब्रह्म की त्रिविध स्थितियों का निरूपण करके आचार्य ने भोक्ता, जीव, भोग्य, सम्पूर्ण संसार पदार्थ तथा प्रेरक अन्तर्यामी कहकर ब्रह्म को त्रिविध रूप में होते हुए भी एक रूप में प्रतिपादित किया गया है। आचार्य कहते हैं कि भोक्ता आदि प्रपंच को ब्रह्म अथवा आत्मा जानना चाहिए।[१]

इसी प्रकार से कठोपनिषद् कहती है कि जो मुमुक्ष जलादि भूतों से पहले उत्पन्न हुआ है, सभी भूतों की बुद्धि रूप गुहा में अवस्थित है, निश्चय ही वह ब्रह्म है। आचार्य इस मूल कथन में यह और जोड़ देते हैं कि ब्रह्म न केवल जल से पूर्व उत्पन्न हुआ है अपितु जल सहित सभी पंच महाभूतों से पहले उत्पन्न हुआ है।[२] और इस रूप में आचार्य सदानन्द योगीन्द्र के शब्दों में वह ब्रह्म अस्थूल, अचक्षुर, अप्रमाण, अमना, अकर्ता, चैतन्य, प्रकाशरूप नित्य है। यह अनुभव " मैं ब्रह्म हूँ"–ऐसा विद्वदनुभव से ज्ञात है।[३]

---

१. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
सर्वप्रपोक्ता त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। श्वे०, पृ. ७७

× × × × × × × × × × × ×

भोक्ता जीवो भाग्यमितरत्सर्व प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः। तदेतत् त्रिविधं प्रोक्ता ब्रह्मवेति। भोक्त्राद्यशेकन्दप्रपंचविलापनेनैव निर्विशेष ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः।

वही, पृ. ७७ पर शाङ्करभाष्य

२. यः पूर्व तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।

× × × × × × × × × × × ×

अदभ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पंचभूतेभ्यो व केवलाभ्योद्भ्या इत्यभिप्रायः।

वही, पृ. १०० तथा शाङ्करभाष्य, १०१

३. वे.सा., पृ. ११८

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सद्रूप ब्रह्म किस प्रकार सृष्टि उत्पादन में सक्षम हो सकता है। इसके समाधान में जो कहा जाता है उसके अनुरूप वेदान्त की भाषा में ब्रह्म अविद्या की शक्ति से अथवा अपनी मायात्मकता से सृष्टि का सृजन करता है। यह शक्ति आवरण और विक्षेप के रूप द्विविधरूपा है।

इसमें आवरण शक्ति का जो स्वरूप दिया गया है तदनुरूप से जो शक्ति ब्रह्म से लेकर उसके स्वरूप के यथार्थ को ढक लेती है अर्थात् आवरित कर लेती है– वह आवरण शक्ति है। और जो शक्ति ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार को उत्पन्न करती है– वह विक्षेप शक्ति कही जाती है।[1] और इस रूप में ब्रह्म की मायात्मक शक्ति से सृजित यह सृष्टि उसकी माया रूपता के परिणाम से परिणमित है और इस सिद्धान्त से यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म के परिणाम से सृष्टि की अनित्यता के कारण ब्रह्म में अनित्यता की प्राप्ति होगी अथवा ब्रह्म के अंश के परिणाम से ब्रह्म में सावयवत्व होगा।[2]

---

१. सच्चिदानन्द स्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः।

× × × × × × × × × × × ×

ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्धवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः।

वे.सा.,पृ. ८६-९६ से उद्धृत।

२. न युवतो युज्यते वास्य परिणामो न युज्जते।
कात्स्न्यार्दब्रह्मानित्यताप्तेरशान् सावयवं भवेत् ।।
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कात्स्न्यार्न्नापि भागतः।
युक्तो नवयवस्यापि परिणामो त्रिमायिकः।।

ब्र.सू., पृ. ४२६ पर शाङ्करभाष्य

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर यह सन्देह किया गया है कि अप्रावर्तक स्वभाव से ज्ञात आत्मा अथवा ब्रह्म सृष्टि में प्रवर्तक कैसे बन सकता है, क्योंकि उसके प्रवर्तक सिद्ध होने पर उसमें प्रवर्तकत्व का स्वरूप उपपन्न होने लगेगा। इसके सम्बन्ध में आचार्य का यह समाधान है कि अप्रवर्त स्वभावी भी प्रवर्तक हो सकता है जैसे चुम्बक स्वयम् रूप रहित अप्रवर्तकत्व स्वभाव से युक्त संसार में लौहादि के सम्बन्ध में प्रवर्तित देखी जाती है। उसी प्रकार से अप्रवर्तक ब्रह्म भी सृष्टि का प्रवर्तक स्वीकार किया जा सकता है।[1]

इसी प्रकार से आचार्य शङ्कर सत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है-इसका समाधान देते हुए उदाहरण देते हैं कि सत् ही दूसरे आकार में स्थित हो पाता है जैसे कि सर्प कुण्डली रूप हो जाता है। मृत्तिका पूर्णरूप हो जाती है, वही पिण्ड, घट, कपाल आदि के रूप में हो जाती है।[2] इसी प्रकार ब्रह्म नाम रूपात्मक जगत् में परिवर्तित प्रतीत होता है। और इन सभी सिद्धान्त प्रतिपादकों से वह निरूपित होता है कि सद् रूप ब्रह्म ही इस सृष्टि का आदि कारण स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. ननु देहादिसंयुक्तस्याप्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृन्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकलमिति चेत् न।...........विद्यापत्युषस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासंवृत-प्रत्यक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे।

ब्र.सू.,पृ. ४४९ पर शाङ्करभाष्य

२. सत्यमेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते किं तर्हि। सदेव संस्थानादेवतिष्ठते। यथा सर्पः कुण्डलीभवति। यथा च मृतपिण्डघटकपालादिप्रभैदेः।

छा.उ.,पृ. ५९३ पर शाङ्करभाष्य

सृष्टि का कारणरूप ब्रह्म :-

सृष्टि की संरचना में ब्रह्म की कारणता का विचार करने के साथ-साथ यह भी विचार किया गया है कि ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण। तब यह कहा गया कि जिस प्रकार मकड़ी जाल रूप अपने कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्तकारण है और अपने शरीर प्राधान्य के कारण उपादानकारण है। इस निरूपण के सन्दर्भ में उपनिषद् की मूल अवधारणा का भी उद्धरण वहाँ पर किया गया है।[१]

एक अन्य स्थान पर भी इसका विवेचन किया गया है और यह कहा गया है कि समस्त जगत् का उपादानत्व ही ब्रह्म लक्षण है। उपादान का लक्षण है अध्यास का अधिष्ठानत्व अथवा जगत् के आकार में परिणत हुई माया का अधिष्ठानत्व। इसलिए यह कहा गया है कि "इदं सर्वं यदयमात्मा"।[२] आचार्य शङ्कर ने भी संकेत रूप से ब्रह्म के उपादान और निमित्त कारण का कथन किया है और कहा है कि मृत्तिका से ही घटोपलब्धि होती है और तन्तुओं से पटोपलब्धि। इसी तरह निमित्त कारणों के अभाव में कुलाल के रहने पर भी घटाभाव होता है।[३]

---

१. यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीर प्रधानतयोपादानं च भवति। वे.सा.,पृ. ८९

× × × × × × × × × × × ×

यथोर्णनाभिः सृजते-गृह्यते च।
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि।।
तथाक्षरात्सभंवतीह विश्वम्।। वही, पृ. ८९ पर उद्धृत

२. निखिलजगदुपादनत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् जगदाकारेण विपरिणमयामायाधिष्ठानत्वं वा। वे.प., पृ. ३३२

३. ब्र.सू. शाङ्करभाष्य, पृ. ४०७

छान्दोग्योपनिषद् ब्रह्म का उपदेश करती हुई कहती है कि यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। यह उसी से उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और उसी में चेष्टा करता है। इस प्रकार इस लोक में जैसे पुरुष निश्चयवाला होता है वैसे ही यहाँ मरकर जाने पर होता है।[1]

इस पर अपना भाष्य प्रस्तुत करते हुए आचार्य शङ्कर ने यह प्रतिपादित किया है कि तेज, अप् और अन्नादि क्रम से सारा जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह ''तज्ज'' है तथा उसी जननक्रम के विपरीत क्रम से उस ब्रह्म में लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूप में उससे मिल जाता है इसलिए ''तल्ल'' है। अपनी स्थिति के समय उसी में अनन-प्राणन करता है इसलिए ''तदन'' है।[2] इस रूप में जो प्रतिपादन आचार्य द्वारा किया गया है उससे यही ज्ञात होता है कि जिस ब्रह्म से यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है उसी में विपरीत क्रम से इसके लय होने को ही प्रलय कहा जा सकता है। यही सृष्टि का अवसान अथवा प्रलय है।

---

१. सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स कदुं कुर्वीत।

वही, पृ. ३०३

२. तज्जलानिति तस्माद् ब्रह्मणो जातं अन्नादिक्रमेण सर्वम्, अतस्तज्जम्, तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतयाश्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेन कालेष्वविशिष्टं तदतिरेकेणाग्रहणात्। अतस्तदेवं जगत्।

वही, पृ. ३०४ पर शाङ्करभाष्य।

एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ लक्षित होते हैं वे सभी काल्पनिक हैं। नित्यस्वरूप परमात्मा ही एक मात्र सत्य है जिस तरह काल्पनिक कटक, कुण्डल आदि आभूषणों के लिए स्वर्ण सत्य है। इसी क्रम में यह कहा गया है कि जिस तरह से उपाधिभेद के कारण आकाशभेद की प्रतीति घटाकाश, मठाकाश, पटाकाश के रूप में होती है और उपाधि के नष्ट होते ही यह भेद मिट जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता परम परमात्मा उपाधिभेद के कारण ही भिन्नवत् प्रतीत होता है। उपाधि नष्ट होते ही वह एकमात्र और अद्वितीय है।[१]

कठोपनिषद् कहती है कि मृगतृष्णा,रज्जु और आकाश के स्वरूपज्ञान से मृग जल, रज्जुसूर्य, आकाशमालिन्य का बाधकर जैसे पुरुष स्वस्थ हो जाता है उसी तरह से सर्वप्रपंच नाम, रूप और कर्म का बाधकर विवेकी स्वस्थ हो जाता है।[२] इस रूप में यह जगत् प्रपंचात्मक है और इसका बाध ही प्रलय है।

---

१. सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णो प्रकल्पिता:।
व्यक्तयो: विविधा सर्वा हाटके कटकादिवत् ।।
× × × × × × × × × × × ×
यशाकाशो हृषीकेशौ नानोपाधिगतो विभु:।
तद्भेदादि भिन्नवद् भाति तन्नाकाशादेकवद् भवेत्। आ.वि., पृ. ५१-५२

२. एवं पुरुष आत्मीन सर्वप्रविलाप्य नमरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितम्............
...............................यथाज्ञानेन मरीचच्छुक्तिरज्जुसर्पगगनमलानीव..........स्वस्थ:
प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति। वही, पृ. ८६ पर शाङ्करभाष्य

वेदान्त परिभाषा में प्रलय का निरूपण करते हुए इसका आख्यान चार रूपों में किया गया है। यहाँ पर कहा गया है कि प्रलय का अर्थ है-त्रैलोक्य नाश। यह नाश नित्य, प्राकृतिक, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से चार प्रकार का होता है। इनमें से सुषुप्ति नित्य प्रलय है क्योंकि इसमें समस्तकार्य प्रलय रूपी होते हैं। इसमें धर्म, अधर्म, संस्कार कारण रूप से विद्यमान रहते हैं।[१]

प्राकृत प्रलय का अर्थ है कि कार्यब्रह्म के विनाश होने से समस्त कार्यों का विनाश होता है। इस प्रलय में समस्तलोकभूत कार्यों का प्रकृति में लय होता है।[२]

नैमित्तिक प्रलय के विषय में यह कहा गया है कि कार्य ब्रह्म का दिन समाप्त होने वाले केवल त्रैलोक्य के लय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इस प्रलय के प्रमाण के रूप में पुराण वचनों का भी यहाँ पर उदाहरण दिया गया है।[३] चतुर्थ प्रलय तुरीय प्रलय के सम्बन्ध में यह कहा है कि यह परब्रह्म के साक्षात्कार से होने वाला सर्वमोक्ष तुरीय प्रलय है।

---

१. प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधः- नित्य प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति। तत्र नित्यः प्रलयः- सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयपत्वात्। धर्माधर्मपूर्व-संस्काराणां च तदा कारणात्मनावस्थानम्। वही, पृ. ३४३

२. प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः................................ ....निखिललोकतदन्तर्वर्तिस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतो माययां च लयः। वही, पृ. ३४६-३४७

३. कार्यब्रह्मणो दिवसावनिमित्तकस्त्रैलोक्यप्रलयः नैमित्तिकप्रलयः। प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि। वही, पृ. ३४८

यह चतुर्थ प्रकार का प्रलय ज्ञानोत्पत्ति से होता है और इसमें अज्ञान हित कर्मों का उपराम होता है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में जब "बहुत्यां प्रजायेयति" का व्याख्यान आचार्य शङ्कर ने किया तो कहा कि सत् से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। और जो अन्य बुद्धि है वह विवेक दृष्टि से देखने के बाद निवृत्त हो जाती है जैसे रज्जु का विवेक करने से "सर्प" शब्द और "सर्पबुद्धि" निवृत्त हो जाती है अथवा मृत्तिका का विवेक करने पर घटादि की बुद्धि निवृत्त हो जाती है। उसी तरह "सत्" का विवेक करने पर विकृत बुद्धि से उत्पन्न जगत् की निवृत्ति हो जाती है।[2]

जिस क्रम से प्रलय होता है इस पर आचार्य ने यह क्रम निरूपित किया है कि उत्पत्ति-क्रम के विपरीत स्वरूप वाला प्रलयक्रम होता है कि लोक में देखा जाता है कि जिस क्रम में कोई सीढ़ी पर चढ़ता है उसके विपरीत क्रम से उतरता है। इसी मृत्तिका से उत्पन्न घट और जल से उत्पन्न वर्फ आदिविनिष्ट होकर मृत्तिका और जल ही होते हैं। और यह लौकिक मरण जीवाश्रित देहादि का ही होता है व्यवहार केवल जीव का कहा जाता है।[3]

---

१. तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। तत्रास्त्रयो प्रलयाः कर्मोपरति निमित्ताः, तुरीययस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लया ज्ञानेन सहैवेति विशेषः।

वे.प., पृ. ३४९

२. सदेव तु सर्व अभिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्धया। यथा रज्जुरेव सर्पबुद्धया सर्प इत्यभिधीयते यथा वापिघटादि मृदान्यबुद्धया,..
तदवत्सद्विवेकदर्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धि निवर्तेति। वही, पृ. ५९७ शाङ्करभाष्य

३. विपर्येण तु प्रलयक्रमो त उत्पत्तिक्रमाद भवितुमर्हति। तथापि लोके दृश्ये येन क्रमेण. ....जातेहिमकर कादकभावमप्येति। ब्र.सू.,पृ. ५५९ पर शां. भा.

× × × × × × × × × × ×

जीवस्य जन्ममरणे वपुषे वात्मनो हि ते।

× × × × × × × × × × ×

मुख्ये ते वपुषो भवते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि।। वही,पृ. ५६३

ब्रह्म का बन्ध और मोक्ष :-

उपनिषदों में अविद्या को बन्धन का कारण माना गया है। इसी अविद्या के कारण जीव स्वयम् को ब्रह्म अथवा आत्मा से पृथक् जानता है। इसी के परिणाम में उपनिषद् कहती है कि यह जीव उसी तरह मरता है और जन्म लेता है जिसप्रकार कृषि का अन्न पकता है तथा उत्पन्न होता है।[1] इससे जीव को अनेक प्रकार के क्लेश होते हैं अतः कहा जाता है कि हम अन्धकार से प्रकाश की ओर चलें अर्थात् अविद्या से मुक्त हो ज्ञान की प्राप्ति करें।[2]

ग्रन्थि अन्य कुछ नहीं अविद्या ही है। अविद्या का उच्छेद आवश्यक है। विद्या के द्वारा ही अविद्या का उच्छेद किया जा सकता है। जो अविद्या की उपासना करते हैं उनका अन्धकार में ही प्रवेश होता है। जीव के बन्धन में श्रेय और प्रेय दोनों हेतु हैं। श्रेय को ग्रहण करने वाला शुभ माना गया है और प्रेय का आकांक्षी अपने पुरुषार्थ से पतित हो जाता है। विवेकी व्यक्ति श्रेय का ही वरण करते हैं। उपनिषद् में ऐसा आख्यान आता है कि नचिकेता ने सम्पूर्ण भौतिक उपलब्धियों को इसलिए ठुकरा दिया था क्योंकि भौतिक प्राप्तियों से आत्मज्ञान की उपलब्धि असम्भव थी। मैत्रेयी ने भी यह निश्चय किया था कि वह आत्मज्ञान ही प्राप्त करेगी, सांसारिक सुख-साधनों के मोह में नहीं पड़ेगी।

---

१. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः। क.उ. १/१/६

२. असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय। बृह. १/३/२८

इस तरह यह संकेत मिलता है कि आत्मज्ञान के अतिरिक्त जो भी प्राप्त होता है वह अविद्यागत होता है और अविद्या से आच्छादित व्यक्ति बन्धनयुक्त होता है। उपनिषद् यह कहती है कि आत्मा का साक्षात्कार हो जाना ही मोक्ष पद से अभिप्रेत है। आत्मज्ञान होते ही सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है। जीव तथा ब्रह्म की ऐक्य भावना ही ज्ञानी का लक्ष्य है। आत्मज्ञानी को ही नित्य सुख तथा शान्ति मिलती है। सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त करना होता है। आत्मज्ञान होते ही सांसारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं। जिसके सांसारिक बन्धन समाप्त हो जाते हैं वह निर्भय हो जाता है। अज्ञान के समाप्त होते ही सत्, असत्, दिन, रात्रि कुछ भी नहीं प्रतीत होता केवल शिवत्व ही शेष रहता है।[१]

आचार्य शङ्कर भी अविद्या को ग्रन्थि मानते हैं और यह लिखते हैं कि अविद्या जनित प्रतीति के कारण ही यह शरीर मैं हूँ, यह धन मेरा है, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ–इत्यादि प्रकार के अनुभव होते हैं। इसके विपरीत ब्रह्मात्मभाव के अनुभवकी उत्पत्ति से ''मैं असंसारी ब्रह्म हूँ'' ऐसे तत्त्वज्ञान से अविद्या जनित ग्रन्थि विनष्ट हो जाती है और ''मर्त्य'' अमर्त्य हो जाता है।[२] ब्रह्म सूत्र में आचार्य ने एक स्थान पर ब्रह्म और जीव की अभिन्नता को निरूपित किया है और यह कहा है कि वह उत्तम पुरुष है उस उक्ति से उसकी ब्रह्मरूपता निरूपित है।[३] यही मुक्त की मुक्तावस्था है।

---

१. श्वे. ४/१८

२. ब्रह्ममैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टध्वविद्याग्रन्थिसुतन्निमित्ता कामा मूलतो विनश्यन्ति।
क.उ.,शां., पृ. १५२-१५३

३. ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तरूपाचारतः । ब्र. सू. शां., पृ. १०५८

तत्त्वमसि का अर्थ :-

इस महावाक्य का अर्थ है त्वम् तत् अर्थात् जीव और ब्रह्म एक है। अथवा यह कहें कि त्वम् (जीव) तत् (ब्रह्म) असि (हो)। यह दोनों 'मैं' अभेद का प्रतिपालक वाक्य है। किन्तु इसका अर्थ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये दोनों एक प्रकार से विरुद्ध धर्मा भी हैं। जीव अल्पज्ञ तथा अणु है ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है। इस रूप में दोनों की एकता कैसे सिद्ध होगी ? इस पर आचार्यों में विचार होता रहा है। इसका एक समाधान यह दिया गया है कि इन दोनों में भिन्नता होते हुए भी जो चैतन्य की अभिन्नता है, उसे ही दोनों की एकता का आधार मानना चाहिए। जैसे जिस देवदत्त को कल देखा था, वह आज देखे गए देवदत्त से अभिन्न है। यह तात्कालिक रूप से विरुद्ध धर्मों को हटा देने पर चैतन्यरूप की एकता दिखाई देने लगती है।[१] आचार्य सुरेश्वर का यह कहना है कि यह महावाक्य तीन सम्बन्धों की सहायता से अखण्डार्थ का बोध कराता है। ये सम्बन्ध हैं- पदों का समानाधिकरण, पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव, आत्म-ब्रह्म का लक्ष्य लक्षणभाव।[२]

छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से समझाते हुए कहा था कि इस शरीर का मूल कारण अन्न, जल आदि हैं। उस जलरूप मूल से यह शरीर अंकुर उत्पन्न होता है क्योंकि यह शरीर मूल के बिना हो ही नहीं सकता। ऐसा इसलिए है कि उस भौतिक शरीर का जल के सिवा और मूल कहाँ हो सकता है।

---

१. भा.द. (ब.), पृ. ३८०

२. समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेषता।
लक्ष्यलक्षण सम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।। नै. सि. ३/३

जल रूप अंकुर से तेज रूप मूल का अन्वेषण करो। तेजोरूप अंकुर से सद्रूप मूल का अनुसंधान करो। यह सभी प्रजा सन्मूलक है, सद्रूप आयतन वाला है और सत् ही इसका विलय स्थान है। जैसे पृथिवी, जल और तेजो रूप ये तीन देवता सच्चिदानन्द पुरुष को प्राप्त कर उनमें से प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाते हैं, उसे मैंने पहले ही कह दिया। मरते समय इस पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमात्मा में लीन हो जाता है। यह जो जगत् के मूल कारण में अणुता है, एतद्रूप ही सम्पूर्ण जगत् है। वह सत्य है, वही आत्मा है और वही तू है।[१]

अहं ब्रह्मास्मि की गतार्थता :-

उपनिषद् यह कहती है कि उत्पत्ति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ" और इस ज्ञान से वह ब्रह्म रूप हो गया। उसे देवताओं में जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। महर्षि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखा और जाना। प्रकृत ब्रह्म को जो इस प्रकार से जानता है वह विज्ञान रूप से सर्वरूप हो जाता है। वह आराध्य भिन्न है और मैं भिन्न हूँ इस प्रकार जो भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी परमार्थ तत्त्व को नहीं जानता।[२]

---

१. स य एषोणिमैतदात्मयमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति यथा सोम्येति होवाच। ई.द्वा.उ., पृ. २१८

२. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्वै तत्पश्यन्नृर्ष्वामदेवः प्रतिपेदे हं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एव वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा हेयषां स भवत्यथ यो त्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योहमस्मिति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्। वही, पृ. २८०

ब्रह्मसूत्र में आचार्य वादरायण लिखते हैं कि वह मेरी आत्मा है इस भाव से ज्ञानी उसे प्राप्त करते हैं और इसी रूप में उसे ग्रहण करते हैं। उपनिषदों में प्रतीकों की उपासना के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि जो भिन्न-भिन्न पदार्थों में ब्रह्मरूप से उपासना करने का जो कथन है, वह प्रतीकोपासना है किन्तु प्रतीक में ब्रह्म भावना नहीं करनी चाहिए। जैसे मूर्ति आदि में भगवान् की उपासना करके उपासना की जाती है उसी प्रकार से मन आदि प्रतीक में भी उपासना करने का विधान है। किन्तु प्रतीक में आत्मभाव का विधान न होकर स्व में ही आत्मभाव होना चाहिए।[1]

आचार्य शङ्कर "अहं ब्रह्मास्मि" वाक्य की गतार्थता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर ब्रह्म शब्द से ऊपर ब्रह्म अभिप्रेरित है क्योंकि उसी में सर्वभाव का साध्यत्व संभव है। यह ब्रह्म अपूर्व (कारण रहित) (अनपर) कार्य रहित (अनन्तर) विजातीय द्रव्य से रहित और अवाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करने वाला ब्रह्म है।[2] अन्य महावाक्यों के माध्यम से भी यही संकेतित है कि यह जो अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है, और वही तू है।

---

१. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च।

× × × × × × × × × × × ×

न प्रतीके न हि सः। वे.द.,पृ. ३८९-३९०

२. तदेवत् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमवाह्यं - अपमात्माब्रह्म............। बृ. उ. ५/१९

× × × × × × × × × × × ×

आत्मैवेदग्र आसीत् पुरुष........................सोऽहं अस्मीत्यग्रे व्याहरत् । वही १/४/१

अन्य आचार्य और उनकी दृष्टि :-

आचार्य शङ्कर केवलाद्वैत के प्रतिपादक आचार्य हैं। उनके मत से एकमात्र ब्रह्म को ही पारमार्थिक मानने से जीव भेद का भी माया के द्वारा ही समाधान प्रस्तुत किया गया है। अविद्या का आश्रय लेकर ही ये सभी प्रकार की आपत्तियाँ है। आचार्य शङ्करोत्तर विद्वानों ने अनेक प्रकार की व्याख्या की है। विद्यारण्य एवं संक्षेपशारीरिक के निर्माता आदि विद्वान् बिम्ब प्रतिबिम्बवाद के समर्थक जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इनमें भी प्रतिबिम्ब के अविद्यागत अन्तःकरणगत एवम् अज्ञानगतरूप में अनेक मत भी हैं।[१] इसके विपरीत कुछ आचार्य ऐसे हैं जो बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव ग्रहण न करके जीव को अवच्छेद कहते हैं। उनके अनुसार अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब ब्रह्म जीव नहीं है अपितु अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है। एक पक्ष यह भी है कि जीव न तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और न उसका अवच्छेद। अपितु ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीव बन जाता है। अविद्या के निरस्त हो जाने पर विद्या के कारण ब्रह्म शुद्ध रूप में स्थित रहता है।[२]

आचार्य भास्कराचार्य यह निरूपण करते हैं कि ब्रह्म की भोक्तृ शक्ति का परिणाम जीव है। वह ब्रह्म से अभिन्न न होकर भिन्न है। जगत् भी दूसरे से भिन्न है तथा वे दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। जैसे अग्नि की दाहकता और प्रकाशवत्ता दोनों परस्पर भिन्न हैं किन्तु कारणरूपा अग्नि एक है उसी प्रकार से भिन्न परिणामों को परिणमित करने वाला कारण रूप ब्रह्म अभिन्न है। जीव ब्रह्म का परिणाम होने के कारण उससे भिन्न है

---

१. वे.सि.मं., १/२८/४०
२. वही, १/४१-४२

किन्तु उसमें अभेद नामक धर्म भी है जो उसकी अभिन्नता की ओर संकेत करता है। जिसप्रकार एकमेव महोदधि तरंगादि के रूप में भेदात्मक हो जाता है वैसे ही ब्रह्म तथा जीव की स्थिति है। जीव में मूलतः चेतना है किन्तु उस चेतनता का बोध ज्ञेयत्व के द्वारा ही होता है। परिणामतः अपनी स्थिति के लिए उसे विषयों पर आधारित रहना पड़ता है।[1]

जीवात्मा हृदय में स्थित है। अविद्या के कारण ही अणु परिमाण का स्वरूप है। ईश्वर से अभिन्न होने के कारण पारमार्थिक रूप में अणु-परिमाण का स्वरूप नहीं है। बुद्धि, अहंकार, पंचेन्द्रिय तथा पंचप्राण इसके पुनर्जन्म के हेतु हैं। बुद्धि आदि का सम्बन्ध जीव का अनिवार्य स्वरूप नहीं है परिणामतः जब तक सम्बन्ध है तब तक जीव का स्वरूप सत्य है किन्तु इसका अन्तिम आधार ईश्वर है। ईश्वर ही इससे सत्कर्म कराता है और इसके अन्दर स्थित होकर नियंत्रण करता है। शरीर में स्थित जीव सारे शरीर को ठीक वैसे ही नियन्त्रित करता है, जैसे एक स्थान पर रखा हुआ चन्दन पूरे अंग प्रत्यंग को सुगन्धित करने की क्षमता रखता है। जीव कर्म किए बिना मोक्ष का अधिकार नहीं रखता है।[2]

---

१. अभेद धर्मश्चाभेदो यथा महोदधेरभेदाः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, न तु तरंगादयाः पाषाणादिषु दृश्यते, तस्यैव ताः शक्तयः शक्तिशक्तिमतो-श्चान्यत्वमन्यत्वोपलक्ष्यंते यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनादि शक्तयः.....तस्मात्सर्वमेकानेकात्मकं नाट्यन्तं अभिन्नं भिन्नं वा। ब्र.सू.(भास्कराचार्य) २/१/१८, २/३/१८

२. वही, ३/४/२६

आचार्य रामानुज के अनुसार अहमर्थत्व औपाधिक या मिथ्या नहीं है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी अहमर्थत्व से निवृत्ति नहीं होती। जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है आत्मा अपने में ज्ञान का स्वरूप या चिद्रूप है किन्तु वह ज्ञान गुणवाला भी है। वे यह निरूपित करते हैं कि जिसप्रकार दीपप्रभा दीप का गुण है और वह स्वयम् में दीप स्वरूप भी है उसी प्रकार आत्मा चिद्रूप और चैतन्यगुणक भी है। चिद्रूप होने से वह स्वयम् प्रकाश भी है। जिस प्रकार प्रकाश सापेक्ष होता है उसी प्रकार आत्मा की चिद्रूपता जनित स्वयं प्रकाशता भी सापेक्ष है।

आचार्य रामानुज के अनुसार इसलिए स्वयं प्रकाशता प्रकाशमात्र न होकर ज्ञाता भी है। इनके अनुसार "अहं सुखी" तथा "अहं ज्ञाता" आदि प्रयोगों से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध होता है और उस ज्ञातृत्व से आत्मा की अहं अर्थ प्रतीति भी सिद्ध हो जाती है। इनके अनुसार ज्ञान गुण भी है और द्रव्य भी है।[1]

अद्वैत दृष्टि से निर्विकार आत्मा में ज्ञातृत्व कथमपि संभव नहीं है किन्तु रामानुज के अनुसार ज्ञातृत्व विकारात्मक नहीं है अपितु ज्ञानगुणाश्रयता ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान आत्मा का सामान्य धर्म है।

---

१. यथैकमेव तेजोद्रव्यप्रभा प्रभावरूपेणावतिष्ठते।..............................एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्येकगुणक इति चिद्रूपता हि स्वयम् प्रकाशता।

श्री भाष्य, पृ. १५०, १५३, उ.त.ज्ञा., पृ. २११

आचार्य बल्लभ जीव को अनादि मानते हैं किन्तु इसे वे ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। जीव अवस्था में ब्रह्म की आनन्द शक्ति छिपी रहती है किन्तु उसका सत् तत्त्व यथावत रहता है। निम्बार्काचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्म का ही अंश है किन्तु अज्ञान जीव का धर्म है।[१] आचार्य मध्व का यह मानना है कि जीवात्मा के तीन विभाग हैं। ये तीन प्रकार की आत्मायें हैं- मुक्तियोग्य, नित्य संसारी तथा तपोयोग्य।[२]

आचार्य वाचस्पति मिश्र का निरूपण यह है कि बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का विवेचन करने पर यह निष्कर्ष प्रकट होता है कि रूपवान् द्रव्य में रूपवान् द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब होता है जैसे रक्त जपाकुसुम का शुक्ल स्फटिक में प्रतिबिम्ब होता हुआ देखा जा सकता है। रूपरहित आकाश का प्रतिबिम्ब किसी में नहीं देखा जाता और किसी अन्य द्रव्य का प्रतिबिम्ब भी रूप आकाश में नहीं होता। ब्रह्म स्वयम् ही रूप रहित है उसका प्रतिबिम्ब अज्ञान तथा अन्तःकरण में सम्भव नहीं है। वह अवच्छिन्न चैतन्य अवच्छेदक उपाधि के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित कर दुःख, कर्तव्य, भोक्तृत्व, जनन के प्रवाह का अनुभव करते हुए अनन्त पीड़ाओं से पीड़ित रहता है।[३] आचार्य अमलानन्द सरस्वती इसी का विवेचन इसी प्रकार से करते हैं।[४]

---

१. हि. इ. फि. भाग- ३, पृ. ४१३
२. वही, पृ. १५५-१५६
३. भा.अ.,पृ. ८१
४. न माया प्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरूपरूप्यता।
अवच्छेदान्नं तज्जानात् सर्वविज्ञानसम्भवः।।
अधिष्ठाने तु जीवाभिरविद्याभिरपावृते।
जगदभ्रमप्रसिद्धौ कि साधारण्येह मायया।। क.प. १/४/३

शङ्कर का आत्मवाद और उसका शून्यात्मक स्वरूप :-

आचार्य शङ्कर मूल रूप में आत्मवादी अवधारणा की स्थापना करते हैं- इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। उनका आत्मदर्शन स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है कि यह आत्मा इन लोगों को विशेष रूप से सेतु के सदृश धारण करने वाला है। दिन-रात इसे नहीं प्राप्त करते क्योंकि यह काल से अवच्छिन्न नहीं है। इसे न जरा, न मृत्यु, न रोग, न शोक, न पाप तथा न, ही पुण्य प्राप्त करते हैं। यह ब्रह्म लोक स्वरूप है और सभी पापों से उपराम है।[1] इसी प्रकार से जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि ब्रह्म सत् है अथवा असत् अथवा उभय भिन्न है तब यह कहा जाता है कि ब्रह्म अनिर्वाच्य है। ब्रह्म का व्यवहार वाणी से परे है, इसलिए न उसे सत् कह सकते हैं और न असत् कह सकते हैं।[2]

अब जबकि यह कहा जाता है कि आचार्य शङ्कर ने जिस ब्रह्म का निरूपण किया है, वह बौद्ध दर्शन में विज्ञानवाद अथवा शून्यवाद की ही तरह है तो यह विचार करना संगत हो सकता है कि यथार्थ में आचार्य शङ्कर का आत्मवाद बौद्धों के शून्यवाद से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।

---

१. य आत्मा स सेतुर्विद्यातिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्नशोको न सुकृतं दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ब्रह्मलोक:। ई.द्वा.उ., पृ. २४९

२. विदितं नाम यद् विदिक्रियतातिशयेनाप्तं विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित् किंचित् कस्यचिद् विदितं स्यादिति सर्वं व्याकृतं विदितमेव।

× × × × × × × × × × × ×

अतो न सन्तन्नासदुच्यते सदसदादिशब्दैर्ब्रह्मनोच्यते।

उद्धृत- शं. थ्यो. ना., पृ. १५३

जैसे विज्ञानवादी दृष्टि से जगत् स्वप्नावभास है किन्तु आचार्य शङ्कर के मत से ऐसा इसलिए नहीं है क्योंकि इन्होंने व्यवहार सत् और परमार्थसत् के रूप में दो प्रकार की सत्ता का आख्यान किया है। शून्यवादी जब शून्य के लिए चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं की अवधारणा को निरूपित करते हैं तो वे उसे सद्रूप नहीं कहते जबकि आचार्य शङ्कर का ब्रह्म सद्रूप है।
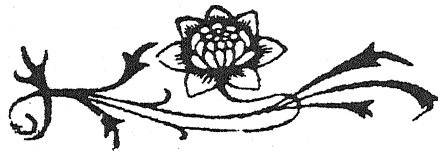
पंचम अध्याय

आचार्य नागार्जुन एवम् शङ्कराचार्य की दर्शन दृष्टि का साम्य-वैषम्य

पंचम अध्याय

(आचार्य नागार्जुन एवं शङ्कराचार्य की दर्शन दृष्टि का साम्य-वैषम्य)

आचार्य नागार्जुन का प्रतीत्य समुत्पाद, अविद्या दृष्टिशङ्कर की दृष्टि से अविद्या तथा माया, स्कन्ध परीक्षाआचार्य शङ्कर का जगत् निरास, नागार्जुन का आत्मखण्डनशङ्कर की आत्मवादी धारणा, साम्य-वैषम्यआचार्य नागार्जुन की निर्वाण दृष्टि, आचार्य शङ्कर का मुक्ति-सिद्धान्त आचार्य नागार्जुन का शून्यवादआचार्य शङ्कर की शून्य दृष्टि, समीक्षा तथा निष्कर्ष।

पंचम अध्याय

(आचार्य नागार्जुन एवं शङ्कराचार्य की दर्शन दृष्टि का साम्य–वैषम्य)

आचार्य नागार्जुन का प्रतीत्य समुत्पाद :-

इस लोक के शाश्वत स्वरूप का निराकरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद का निरूपण किया है। जिस समय भगवान् बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हुआ, उस समय वे रात्रि में यह देख सके कि अविद्या ही मूल में कारण है जिससे बंधकर व्यक्ति इस लोक को नित्य, शाश्वत और अविपरिणी रूप से जानता है। यह उस स्थिति में जानता है जबकि यह लोक क्षणिक, विनाशस्वभावी है और किसी भी रूप में इसकी शाश्वतता का आख्यान नहीं किया जा सकता। उस समय भगवान् ने यह अनुभव किया कि अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरा, मरण, शोक, दुःख और दौर्मनस्य उत्पन्न होते हैं। और इस तरह से इस क्रम से केवल दुखःस्कन्ध का ही उत्पाद होता है। यह पूरी की पूरी हेतु परम्परा केवल दुःखोत्पाद में ही कारण है।[1]

---

१. अविज्जा पच्चया, भिक्खवे, संखारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सडायतनं, सडायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदना पच्चया तण्हा, तण्हा पच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्या जाति, जातिपच्चया जरामरणं शोकपरिदेव दुक्खक्खन्धक्स, समुदयो होति। अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुत्पादो। सं० नि० ।२।, पृ० ४, म० व० ।क० ।,पृ०३ वि० (क०), पृ० १७३

प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार करने के उपरान्त जब भगवान् ने श्रावस्ती में इसी प्रतीत्यसमुत्पाद का पुनः उपदेश किया तब उन्होंने इसे विलोम रूप में देखा। भगवान् ने तब प्रतीत्य समुत्पाद के विलोम का आख्यान करते हुए कहा कि जिस समुत्पाद के मूल में अविद्या है, उस अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है। संस्कार के निरोध से नामरूप का निरोध होता है, नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध होता है, षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध होता है, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध होता है, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध होता है, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध होता है, उपादान के निरोध से भव प्रत्यय का निरोध होता है। और इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थजात का निरोध देखा जाता है[१]।

इसीलिए भगवान् ने एक बार साति नामक भिक्षु को उपदेश देते हुए कहा था कि अविद्या के निरोध से संस्कार निरूद्ध हो जाते हैं और जब ऐसा होता है तो वस्तु का स्थिरभाव स्वयमेव खण्डित हो जाता है। यही कारण है कि कहा जाता है कि''इमस्मिं सति इदं होति, इमस्मिं असति इदं न होति''[२]। इसी क्रम में जब भगवान् से पूछा गया कि अविद्या क्या है, तब उन्होंने कहा कि जो अज्ञान, अदर्शन, मोह और अकुशल है, वह अविद्या है[३]।

---

१. सं० नि० ।२।, पृ० ६

२. म० नि० ।३।, पृ० १२६-१२७

३. वि० ।क०।, पृ० १८३

भगवान् बुद्ध की मूल देशना को आधार बनाकर प्रतीत्य समुत्पाद का जो विवेचन महायान सूत्रों में किया गया है वह भी लगभग ऐसी ही भावना से युक्त है। महायान सूत्रों में कहा गया है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं। इनसे ही जगत् में वस्तुरूप की कल्पना होती है। इसी कल्पना से दुःख स्कन्ध का उत्पाद होता है। क्योंकि यह जगत न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है, न भ्रमण करता है, न यह कहा जा सकता है कि भूतकाल में था और न यह कहा जा सकता है कि भविष्यत् काल में होगा। न यह यथा है न यह तथा है और न यह अन्यथा है। इसीलिए तथागत इस संसार को वैसा नहीं देखते हैं जैसा पृथग्जन इसे देखते हैं। तथागत संसार के पदार्थों को वैसा ही देखते है, वे यर्थाथ में जैसे होते हैं[1]।

लंकावतार सूत्र में जब प्रतीत्य समुत्पाद के विषय में कहा गया तो यह कहा गया कि वाह्य और आध्यात्मिक भेद से प्रतीत्यसमुत्पाद दो प्रकार का है। संसार में जैसे मृतिका, चक्र, दण्ड, सूत्र के संयोग से और कुम्भकार के प्रयत्न से घट उत्पन्न होता है उसी तरह से तन्तुओं से वस्त्र, बीजों से अंकुर और दूध से दधि उत्पन्न होता है। इस रूप में पूर्व-पूर्व वस्तु अपनी-अपनी उत्तर-उत्तरवस्तु के उत्पन्न करने की हेतु होती है- एवमेव महामते वाह्याः प्रतीत्यसमुत्पादः पूर्वोत्तरोत्तरे द्रष्टव्यः[2]।

---

१. दृष्टं हि तथागतेन त्रैधातुकं यथाभूतं न जायते न म्रियते न च्यवते नोपपद्यते न संसरति न परिनिर्वाति न भूतं नानाभूतं न सन्तं नासन्तं न तथा न नान्यथा न वितथा नावितथां तथा त्रैधातुक दृष्टं तथागतेन यथा बालपृथग्जनाः पश्यन्ति प्रत्यक्षधर्मा तथागतः खल्वस्मिन् स्थाने संप्रमोषधर्मा । स० पु० (दास), पृ० ३२।

२. ल० सू०, पृ० ३२-२३

भगवान् बुद्ध की इसी देशना को लेकर ही बौद्ध दर्शन के पश्चात् कालिक सम्प्रदायों ने अपने-अपने रूप से प्रतीत्यसमुत्पाद का व्याख्यान किया है। जो वस्तुवादी दार्शनिक हैं वे इसे हेतु-प्रत्यता का वाद कहते हैं। इसके होने पर इस हेतु से, इस प्रत्यय से यह होता है। इसके उत्पाद से इसका उत्पाद होता है। इसके न होने से यह नहीं होता है। इसके निरोध से यह निरुद्ध होता है। इसी को प्रत्याकार निदान भी कहते हैं।

स्थरविरवाद में यह स्वीकार किया गया है कि हेतु वाद में तीन दोष हैं। ये हैं- राग, द्वेष और मोह। ये तीनों चित्त की अवस्थाओं को अभिसंस्कृत करते हैं। इसीलिए इन अवस्थाओं को सहेतुक कहा जाता है। जो धर्म जिसकी उत्पत्ति में या निवृत्ति में उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। सर्वास्तिवादी जब विस्तार से इसकी विवेचना करते हैं तो वे यह कहते हैं कि हेतु प्रधान कारण है और प्रत्यय उपकारक धर्म है जैसे बीज भूमि में बोया जाता है और तब उस बीज से अंकुर का उत्पाद होता है। इसमें बीज हेतु है किन्तु उदक तथा सूर्य को प्रत्यय के रूप में स्वीकार करना होगा। इस अंकुर का फल वृक्ष है। अब यदि केवल हेतु रूप बीज हो और प्रत्यय रूप उदक तथा सूर्य न हों तो कितना भी प्रयत्न कर लिया जाए, वृक्ष रूपी फल का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। इसी तर्क के आधार पर सर्वास्तिवादी हेतु-प्रत्ययों की बात करते हैं और हेतु प्रत्ययों का युग्म बताते हैं। इस वाद में चौबीस प्रत्यय हैं।

आचार्य वसुबन्धु ने प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा व्यवहारिक जगत् का प्रतिषेध आठ विशेषणों से किया है। ये हैं- अनिरोध,अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनानार्थ, अनागम तथा अनिर्गम। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतीत्य समुत्पाद में न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न उच्छेद होता है, न शाश्वत स्थिति उसमें होती है न उसमें पदार्थों की एकता होती है, न अनेकता होती है, न आगति होती है और न निर्गति होती है। इसमें विरूद्ध धर्मों का निषेध किया गया है इसलिए प्रतीत्य समुत्पाद को अतर्क्य कहा गया है। प्रतीत्य समुत्पाद अतर्क्य इसलिए है क्योंकि तर्क से यह प्रतिपादित होता है कि जो वस्तु एक नहीं है वह अनेक होनी चाहिए, जो आच्छन्न नहीं होती वह शाश्वत होनी चाहिए, जो अनेकार्थ है, उसे एकार्थ होना चाहिए, किन्तु प्रतीत्य समुत्पाद में यह नहीं होता। इसलिए वह अतर्क्य है। सारांशतः यह कह सकते हैं कि लौकिक बुद्धि के द्वारा विकल्पित उत्पाद निरोधयुक्त जगत् की अपारमार्थिकता तथा परमार्थ की अवाच्यता, दोनों ही प्रतीत्य समुत्पाद से सूचित होते हैं।

आचार्य नागार्जुन ने इसी परिपेक्ष्य में पदार्थ, गति, इन्द्रिय,स्कन्ध, आत्मादि का विचार किया है और अपने ग्रन्थ मध्यमक शास्त्र में इस सब पर तर्क दिए हैं। आचार्य ने प्रतीत्य समुत्पाद शून्यता के रूप में कहा है और तब यह निरूपण किया है कि इसमें पर प्रत्यय नहीं है, शान्त है प्रपन्चों से प्रपन्चित नहीं है निर्विकल्पक है और अनानार्थ है। अर्थात् इस तत्त्व में किसी तरह के प्रत्यय, अशान्तता, प्रपंच, सविकल्पता को देखा नहीं जा सकता। यही यर्थाथ में शून्यता और प्रतीत्य समुत्पाद का लक्षण और स्वरूप है[1]।

---

१. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपन्चैरप्रपन्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्। म०शा०, पृ० १५८.

अविद्या दृष्टि:-

जब बौद्ध परम्परा में अविद्या के स्वरूप और लक्षण पर विचार किया जाता है तो यह कहा जाता है कि अविद्या पूर्वजन्म की क्लेश दशा है। अविद्या कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि अविद्या का अर्थ केवल अविद्या ही होता है अथवा अविद्या से क्लेश समुदाय ही अभिप्रेत है। अविद्या उस सबकी सम्बोधक है, जो पूर्व जन्म सन्तति परम्परा में आता है और क्लेश की अवस्था में जो होता है। क्लेश अविद्या के कारण सहचर हैं और अविद्या से अनुस्यूत होने के कारण उनका समुदाचार होता है। जैसे राजा के गमन का उपचार होने से राजा के अनुचरों के गमन का उपचार स्वतः हो जाता है[1]।

आचार्य बुद्धघोष ने अविद्या पर विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थापित किया है कि अविद्या अदि सत्त्व है। अविद्या को आदि में क्यों कहा गया है। जैसा प्रकृतिवादी कहते हैं कि प्रकृति आदि तत्त्व है और यही लोक में इसकी उत्पत्ति का आदि कारण है। किन्तु यह भी साथ में समझा और कहा जाता है कि यह स्वयं अकारण है अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। अविद्या के स्वरूप के विषय में यही कहा गया है कि यदि भगवान् के उपदेश का आधार लेकर यह कहा जाए कि अविद्या का कारण आस्रव हैं तो यह एक पर्याय मात्र कथन है और इससे अविद्या मूल कारण हो सकती है। वैसे इसे दो भागों में विभक्त कर देखा जाता है- एक अविद्या और दूसरा भव-तृष्णा।

---

१. बौ० ध० द०, पृ० २२५

भगवान् ने कहा है कि अविद्या की पूर्व कोटि नहीं जानी जाती। हम यह भी नहीं कह सकते कि अविद्या पूर्व में नहीं थी और पश्चात्काल में हुई। केवल यही कहा जा सकता है कि यह अविद्या वश ही उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार से यह नहीं कह सकते हैं कि भव तृष्णा की पूर्व कोटि हम जानते हैं। हम केवल यह कह सकते हैं कि भव तृष्णा की पूर्व कोटि नहीं जानी जाती। केवल यही कहा जा सकता है कि प्रत्ययवश भव तृष्णा की पूर्व कोटि जानी जाती है। केवल यही कहा जा सकता है कि प्रत्ययवश भव तृष्णा की उत्पत्ति हुई है। इन दोनों को शीर्ष स्थानीय महत्त्व इसलिए देते हैं कि ये दो सुगतिगामी और दुर्गतिगामी कर्म के विशेष हेतु हैं। इनमें भी यह कहा जाता है कि दुर्गतिगामी कर्म का विशेष हेतु अविद्या है क्योंकि अविद्या से अभिभूत पृथग्जन प्राणातिपातादि अनेक प्रकार के दुर्गतिगामी कर्म आरम्भ करते हैं[1]।

इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि अविद्या विद्या का अभाव नहीं है जैसे अमित्र मित्र का अभाव नहीं है। नञ् उपसर्ग कुत्सित अर्थ में होता है जिस प्रकार बुरे पुत्र को अपुत्र कहते हैं। किन्तु अविद्या के सन्दर्भ में यह कहना सम्भव नहीं है कि यह कुप्रज्ञा है। कुप्रज्ञा एक दृष्टि है जबकि अविद्या एक दृष्टि नहीं है[2]।

---

१. भगवा वह कथं कथेन्तो द्वे धम्मेसीसं कत्वा कथेति, अविज्जं वा। यथाह–पुरिमा भिक्खवेकोटि न पञ्ञायति अविज्जाय "इतो पुब्बे अविज्जा नाहोसि, अथ पच्छा सम्भ वतीत। एवच्चेति भिक्खवे वुच्चति, अथ च पन पञ्ञायति इदंपच्चया अविज्जाति। भवतव्हं वा। यथाह–पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति भवतव्हाय" इतो पुब्बे भवतव्हा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति एवन्चेति भिक्खवे वुच्चति, अथ च पन पञ्ञायति इदंपच्चया भवतव्हा ति। वि० म०, पृ० १२०१

२. बौ० ध० द०, पृ० २३२

शङ्कर की दृष्टि से अविद्या तथा माया :-

वेदों में ऐसे उदाहरण दिखाई देते हैं जिनमें माया और अविद्या का संकेत किया गया है तथा यह कहा गया है कि माया ही जीव को जीवत्व का भान कराती है। एक बार ज्ञानियों ने एक पतंग को देखा और यह विचार किया कि इस पर माया का प्रभाव हो चुका है। यह सम्भवतः अब उससे छूटकर परमात्मा में विलीन होना चाहता है[1]।

एक अन्य सन्दर्भ में कहा गया है कि माया का प्रभाव आसुरी होता है और जब कोई असुर सुरों पर विजय प्राप्त करना चाहता है तब वह अपनी आसुरी माया का ही प्रभाव प्रयोग में लाता है। इसलिए इन्द्र ने एक बार ऋजिश्वन से मित्रता की और विप्र असुर की माया का नाश कर दिया। एक अन्य सन्दर्भ में यह उल्लेख है कि इन्द्र ने यजमान के निमित्त माया का नाश किया और अन्धकार को दूर किया[2]।

यजुर्वेद में एक स्थान पर यह विचार किया गया है कि रूपों को कौन विनष्ट करता है अथवा रूपों को कौन निगल लेता है तब यह उत्तर दिया गया कि अजा माया ही सभी रूपों को निगल लेती है। यही शब्द करती हुई रूपों को निरन्तर निगलती है[3]।

---

१. पतंगामशक्त मायया हृदा पश्यन्ति मनस्त विपश्चितः।
समुदे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां परमिच्छन्ति वेधसः।। ऋक्, पृ० १८८९

२. वही, पृ० १८५०

३. यजु०, पृ० ४०६

माया का प्रभाव मायावी होता है किन्तु जो यजमान अग्नि में हवि प्रदान कर अग्नि को प्रसन्न करता है, अग्नि के प्रभाव से माया उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाती है। अग्नि इस प्रकार की माया को नष्ट कर देती है[१]। अविद्या का जहाँ संकेत आया है वहाँ यह कथन है कि जीव के देह में जब विद्या ने प्रवेश किया तो विद्या की तरह ही अविद्या भी उसमें प्रविष्टि हो गई[२]।

उपनिषदें प्रकृति, माया और अविद्या तीनों शब्दों का प्रयोग करती हैं और यथानुरूप का विवेचन भी करती हैं। कर्म करने वाले के सन्दर्भ में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो जानकार कर्म करता है उसका कर्म विद्या से युक्त होता है और जो अज्ञानवश कर्म करता है उसका कर्म अविद्या से युक्त होता है[३]। एक अन्य स्थान पर विद्या और अविद्या के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह निरूपित किया गया है कि विद्या अविनाशी है और अविद्या विनाशी है[४]।

---

१. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये।। — साम०, पृ० ६४

२. विद्याश्च अविद्याश्च यच्चान्यदुश्यम्।
शरीर ब्रह्मा प्राविशदृचः सामधीः यजुः।। — अथर्व, पृ० ६२१

३. तेनोभौ कुरुते यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या च विद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव। — ई० द्वा० उ०, पृ० ४४

४. श्वे०, पृ० १७१

अन्य स्थानों पर जब माया शब्द का प्रयोग किया गया है तो कहा गया है कि ईश्वर अपनी माया से प्रति-प्रति रूपवाला हो गया। माया को अनृत के साथ जोड़कर एक स्थान पर प्रतिपादन है कि जिसमें कुटिलता, अनृत और माया नहीं है, उसे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है[१]।

आचार्य शङ्कर के मत से माया का जो स्वरूप निरूपित किया गया है, उसके अनुसार यह कहा गया है कि संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर को मायावी। मायावी महेश्वर के अवयवों से ही सारा संसार ओतप्रोत है[२]।

प्रश्नोपनिषद् में जब यह जिज्ञासा की गई है कि विरज सूर्य के समान जो प्रकाशयुक्त आत्मभाव है, वह किसे प्राप्त होता है और किसे नहीं प्राप्त होता है तो वहाँ पर माया की मायात्मकता तथा उसके अनृत और कपटी स्वरूप का आख्यान किया गया है। वहाँ पर यह और कहा गया है कि अपने आपको बाहर से अन्य प्रकार से प्रकट करना अथवा अन्यथा कार्य करना मिथ्याचार माया है[३]।

---

१. तेषामतो विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया वेति ।
श्वे०, पृ० १५४ ।

२. मायात्विति। जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिमायैवेति विद्यादि जानीयात्।
श्वे० (शाङ्कर भाष्य), पृ० १५८

३. माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथेव कार्य करोति सा माया मिथ्याचाररूपा।
प्र० उ० , पृ० ३०

एक अन्य स्थान पर मायोपहित चैतन्य को ईश्वर साक्षि चैतन्य कहा गया है और यह कहा गया है कि उस चैतन्य की उपाधिभूत माया एक है[1]। इसी माया के कारण इन्द्र बहुलता को प्राप्त हुए। इस सन्दर्भ में माया का विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादन किया गया है कि माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि हो तब चैतन्य में साक्षित्व होता है[2]।

माया के इस स्वरूप को ही अज्ञान, अविद्यादि शब्दों से घोषित किया गया है। सदानन्द योगीन्द्र ने अज्ञानरूपा अविद्या का लक्षण दिया है और यह कहा है कि यह सत् असत् रहित जो अवर्णनीयहै, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी तथा भावरूप है और जिसके अनुभव से मैं अज्ञ हूँ- ऐसा जाना जाता है, वह अविद्या है[3]।

अविद्या के साथ जिस प्रकार माया शब्द का प्रयोग किया गया है उसी तरह से वेदान्त ग्रन्थों में अज्ञान को अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

---

१. ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूत मायया एकत्वात्।
वे० प०, पृ० ८९

२. मायाविच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः। मायया: विशेषणत्वे ईश्वरत्वम् उपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्व साक्षित्वयोर्भेदः। वही, पृ० ९२

३. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किंदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्। वे० सा०, पृ० ७३

एक स्थान पर यह वर्णन है कि अज्ञान का जब सर्वथा विनाश हो जाता है तो सभी तरह की अविद्या स्वतः विनष्ट हो जाती है[1]।

ब्रह्मसूत्र में आचार्य शङ्कर माया के लिए भ्रमात्मक अविद्या शब्द का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार जागने के पहले स्वप्न-व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं वैसे ही ब्रह्मात्मकता के पहले तक सभी व्यवहार सत्य ज्ञात होते हैं। यह विकारों के कारण होता है। विकारों को ही प्राणी अविद्यात्मक रूप में और आत्म रूप में जानते हैं[2]।

माया और अविद्या तुल्यार्थक रूप में प्रयुक्त है और इनका व्यापक प्रभाव है। यह आचार्य शङ्कर ने स्थान-स्थान पर निरूपित किया है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि कूटस्थ ब्रह्म भी अपनी माया उपाधि के कारण सृष्टा कहा जाता है। इस कार्यकारणात्मक प्रपंच में वह परमात्मा अपनी माया के कारण बंधा हुआ है[3]। इस रूप में प्रारम्भ से विचार परम्परा में माया और अविद्या का स्वरूप निरूपित हुआ है जिसमें आचार्य शङ्कर ने अपनी दृष्टि से अपना मन्तव्य निरूपित किया है।

---

१. कदा अभिमान निवृत्तिः सर्वात्मना अविवेके निवृत्ते सति। कदा अविवेक निवृत्तिः, सर्वात्मना अज्ञाने निवृत्ते सति। कदा अज्ञान निवृत्तिः। ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति अविद्या निवृत्तिः सर्वात्मना भवन्ति। आ० वि०, पृ० १२

२. ब्र० सू० शां० भा० , पृ० ७०२

३. श्वे० शां० भा०, पृ० १५०

स्कन्ध - परीक्षाः-

आचार्य परम्परा में बौद्धों की प्रत्येक परम्परा ने स्कन्धों की परीक्षा की है। अभिधर्मकोशकार ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को अध्व की संज्ञा दी है तथा कहा है कि जैसे गाँव तक पहुँचने वाले मार्ग के लिए कहा जाता है कि यह मार्ग गाँव तक जाता है, गाँव तक जाएगा। इसी तरह इन पंच स्कन्धों के विषय में कहा जाता है कि ये नष्ट हुए थे, नष्ट होते हैं और नष्ट होगें। ये सभी धर्म इसलिए सवस्तुक और संस्कृत धर्म कहे जाते हैं[१]। इन संस्कृत धर्मों का एक अन्य लक्षण यह है कि ये सभी जाति, स्थिति, जरा तथा अनित्यता स्वरूप वाले हैं क्योंकि इनका लक्षण भी इसी प्रकार का दिया गया है- ''लक्षणानिपुनर्जातिजरा स्थितिरनित्यता''[२]। अभिधर्मकोशकार ने इन पदार्थों को त्रिधा स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में विभक्त करके बताया गया है तथा यह कहा है कि भगवान् बुद्ध ने भी त्रिधा पदार्थ विवेचन कर उपदेश किया था[३]।

सौत्रान्तिक मत से वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की अवस्था में स्थिति का निरास किया गया है और यह कहा गया है कि वस्तु त्रिकालिक नहीं हो सकती। भगवान् बुद्ध ने वस्तु का जो त्रैकालिक उपदेश किया है उसका अभिप्राय भी वस्तु का क्षणिकत्व ही है।

---

१. स्फु०, पृ० २२-२४

२. अ० को०, २/४५

३. राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः।
मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् तिस्त्रः स्कन्धादिदेशनाः। अ० को० १/२०

इसलिए सौत्रान्तिक कहते हैं कि किसी भी क्षण में वस्तु की स्थिति नहीं होती है अपितु उत्पत्ति-निरोध से ही वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है। उनका तर्क यह है कि वस्तु क्योंकि संस्कृत धर्मा है इसलिए अनित्य है और क्षण निरुद्ध है[1]।

विज्ञानवादी आचार्यों के मत से यह कहा गया है कि चित्त, मनोविज्ञान और विज्ञप्ति ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। विज्ञान से अतिरिक्त रूपादि पदार्थ स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ जैसे आभासित होते हैं। वस्तुतः पदार्थों की वही स्थिति है जैसे स्वप्न के पदार्थों की स्थिति है। स्वप्न देखता हुआ व्यक्ति स्वप्न में ऐसा अनुभव करता है जैसे वह प्रत्यक्ष ही वस्तु को देख रहा है किन्तु यथार्थ में वस्तु होती नहीं है और जागने पर वह वस्तु दिखाई भी नहीं देती। इसी तरह ज्ञान में वस्तु का आभास तो होता है किन्तु यथार्थ रूप में वस्तु सत्तात्मक रूप से होती नहीं है। इसी तरह से एक और उदाहरण तैमिरिक का है। तिमिर के वशीभूत होने से किसी को केश, चन्द्रादि का दर्शन होता है किन्तु यथार्थ में केश चन्द्र आदि होते नहीं हैं[2]।

---

१. यत्किंचिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नमिति विस्तरः। ऐकध्यमिति। एकधैवैकथ्यम्। अनित्यतानिरुद्धमिति। अनित्यतया संस्कृतलक्षणेन निरुद्धमिति। अनित्यताग्रहणमन्य-निरोधनिरासार्थम्।
स्फु०, पृ० ४८

२. विज्ञप्तिमात्रमेवैतद सदर्थावभासनात्।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्।।
वि० मा० सि०, पृ० १६

माध्यमिक आचार्य भगवान् बुद्ध के उपदेशों को नेयार्थ तथा नीतार्थ के रूप में व्याख्यान करते हैं। इसी के माध्यम से वे भगवान् के उपदेशों का गूढ़ार्थ उपदेश करते हैं। समाधिराज सूत्र में यह कहा गया है कि सुगत की शून्यता नीतार्थ से जानी जाती है जबकि पुद्गल शून्यता और धर्म शून्यता नेयार्थ से जानी जाती है। इस रूप में जब शून्यवादी भगवान् बुद्ध के उपदेशों का व्याख्यान करते हैं तब वे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों में निःस्वभावता का आख्यान करते हैं। वे पंच स्कन्ध में "अहम्" तथा "मम" का व्यवहार भी असद्वाची मानते हैं। वे कहते हैं कि दर्पण में देखे गए प्रतिबिम्ब की तरह से यथार्थ में वस्तु रूप में कुछ भी नहीं है[1]।

आचार्य नागार्जुन ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पंचस्कन्धों की सत्तात्मकता पर विचार किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्कन्ध सत्तात्मक रूप में विद्यमान नहीं हैं। आचार्य यह तर्क करते हैं कि रूप भौतिक हैं और चार महाभूत उनके कारण हैं। किन्तु जिस प्रकार घट से पट भिन्न है वैसे भूतों से पृथक् भौतिक रूप नहीं है। इसी प्रकार भूत भौतिकों से पृथक् नहीं है[2]।

---

१. अहंकारस्तथा स्कन्धानुपादायोपलभ्यते।
न कश्चित्सतत्त्वेन स्वमुख प्रतिबिम्बवत्।। र० , पृ० २९८

२. तत्र रूपं भौतिकं। तस्य कारणं चत्वारि महाभूतानि। तद् व्यतिरिक्तं पृथग्भूतं रूपं रूपं शब्दगन्धरसस्प्रष्टव्याख्यां नोपलभ्यते घटादिव पटः। रूपेणापि न निर्मुक्तं रूपात् पृथग्भूतं रूपकारणमुपलक्ष्यते। म० शा०, पृ० ५०

आचार्य तर्क करते हुए कहते हैं कि यदि महाभूतों के अतिरिक्त भौतिक रूप हैं तो अवश्य ही उन भौतिकों के कारण भूत नहीं हैं। किन्तु कोई भी वस्तु अकारण नहीं होती है, इसलिए भूतों से विमुक्त भौतिक कारण जानना ही पड़ेगा। इसी तरह भौतिक से पृथक् भूत नहीं हैं। यदि कार्य से विमुक्त कारण है तो जैसे घट से भिन्न पट का हेतु नहीं होता, वैसे ही कार्य से पृथक् कारण मानने पर कारण अकार्यक होगा। किन्तु अकार्यक कारण नहीं होता है।

अब यदि रूप का कारण मानें तो प्रश्न होगा कि वह सत् रूप का है अथवा असत् रूप का। क्योंकि उभयथा अनुपपन्न हैं। रूप यदि विद्यमान है तो उसके कारण का कोई प्रयोजन नहीं है और यदि रूप अविद्यमान है तो भी कारण की कोई सार्थकता नहीं है। एक प्रश्न और उत्पन्न होगा कि रूप कारण के सदृश कार्य को उत्पन्न करता है अथवा असदृश। उभयथा अनुपपन्न हैं। यही अन्य स्कन्धों पर भी लागू होता है। माध्यमिक आचार्य जिस रूप में एक धर्म की शून्यता स्वीकार करते हैं उसी तरह से सर्वधर्म शून्यता स्वीकार करते हैं[1]।

---

१. वेदनाचित्तसंज्ञानां संस्काराणां च सर्वशः।
सर्वेषामेवं भावानां रूपेणैव समः क्रमः।। म० शा०, पृ० ५१

आचार्य शङ्कर का जगत् निरासः-

वेदान्त के आचार्य जब जगत् पर विचार करते हैं तो कहते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी माया से एक नई काया को जन्म दे देता है उसी तरह से यह संसार है। यथार्थ में इस जगत् का कोई स्वरूप नहीं है। इस स्थिति में जैसे जादूगर का जादू उसी को मोहित करता है जो उसके जादू को नहीं जानता तदनुरूप इस जगत् के वैचित्र्य को वही स्वीकार करता है जो इसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस स्थिति में यह जगत् सत् है अथवा असत्! इसका समाधान अद्वैत दर्शन में यह कहकर किया गया है कि यह न सत् और न ही अपलाप करने योग्य है। यह प्रतिक्षण प्रवृत्ति मूलक है तथा स्वप्न में देखी गई वस्तु की तरह नहीं है। आचार्य शङ्कर सत् की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि जिस रूप में जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह सतत् समभाव में विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं–[1]

"यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति यत् सत्यम्"–

इस रूप में यदि हम जगत् का अवलोकन करते हैं तो यह देखते हैं कि यह किसी एक रूप में निश्चित नहीं है। यह प्रतिक्षण परिणाम स्वभाव वाला है, प्रतिक्षण चंचल रूप वाला है और स्थिरता तथा अपने एक रूप में कभी न रहने वाला है। ऐसे इस संसार को आचार्य की इस परिभाषा के सातत्य में सत् और अपरिणामी नहीं कहा जा सकता। तब यह प्रश्न रह जाता है कि क्या संसार उस तरह से असत् और अपलाप के योग्य है जैसे स्वप्न में देखे गए पदार्थ होते हैं। इस रूप में भी इस जगत् को नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष में दिखाई देता है।

---

१. भा० द० ।ब।, पृ० ६४२

उसके प्रतिक्षण परिणामी रूप को भी देखा जा सकता है। इसको सिद्ध करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्नदशा का बाध होता है किन्तु जागरित अवस्था का कभी बाध नहीं होता है। स्वप्न में देखे गए पदार्थों की जागने पर प्राप्ति नहीं होने से बाधित होना प्रत्यक्ष है किन्तु जाग्रत अवस्था में देखे गए पदार्थों का बाध प्रत्यक्ष नहीं है। स्वप्न स्मृतिमात्र है किन्तु जागरित अवस्था का ज्ञान ज्ञानरूप है। इस निमित्त से यह कहना संगत है कि इन दोनों स्थितियों में भिन्नता है[1]।

अपनी स्थिति का और स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य ने यह कहा है कि तेज, अन्न, अप आदि के क्रम से यह जगत् ब्रह्म जन्य है। इसीलिए उपनिषद् इसे "तज्ज" कहती है। और इसी जनन क्रम के विपरीत यह जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसलिए इसे "तल्ल" कहते हैं। और अपनी स्थिति के समय यह जगत् उसी ब्रह्म में अनन-प्राणन करता है इसलिए यह तदन है[2]।

---

१. वैधर्म्य हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु, प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागप्तोपलब्धं यस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदति अवस्थायां बाध्यते। अति च स्मृतिरेषा यत् स्वप्न दर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।
ब्र० सू० शां० भा०, २/२/२९

२. तज्जलानीति तस्माद् ब्रह्मणों जातं तेजोवत् आदिक्रमेण सर्वम्। अतस्तज्जम्। तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नैव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेनेति प्रणिति चेष्टत इति। एवं ब्रह्मात्मतयात्रिषु कालेष्वविशिष्टं................ अतस्तदेवं जगत्। छान्दो०, पृ० ३०४

इस विवेचन के क्रम में यदि यह देखा जाए तो सामान्य रूप से यह प्रतीत हो सकता है कि दोनों दार्शनिकों की दृष्टि एक सदृश ही है क्योंकि आचार्य नागार्जुन भी पंचस्कन्धात्मक जगत् को अपलाप मानते हैं औरआचार्य शङ्कर भी जगत्को अनित्यात्म सत्ता वाला स्वीकार करते हैं। एक आचार्य का कहना है कि जगत् उसी तरह अपलाप योग्य है जैसे स्वप्न में देखे गए पदार्थ अपलाप के योग्य होते हैं और उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जिस प्रकार स्वर्ण और मृतिका से बने आभूषण तथा घट मूल रूप से स्वर्ण और मृतिका ही होते हैं और आभूषण तथा घट रूप में उनकी कोई स्थिति नहीं होती उसी तरह से ब्रह्म से जन्म, उसी में स्थिति तथा उसी में लय होने वाले इस जगत् का भी स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं है।

किन्तु इस दृष्टिकोण में मूल रूप से भेद यह है कि आचार्य नागार्जुन की दृष्टि से संसार स्वप्नवत् अलीक है, वह वस्तु रूप में कुछ भी नहीं है किन्तु आचार्य शङ्कर की दृष्टि से जगत् अलीक न होकर परिवर्तन और विनाश को प्राप्त होने वाला तथा सांवृतिक रूप से यथार्थपरक है। यह स्वप्न के सदृश अपलाप योग्य नहीं है।

नागार्जुन का आत्म खण्डनः-

बौद्ध दर्शन में माध्यमिक दर्शन के आचार्य पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की प्रतिष्ठा करते हैं। आत्मा की शाश्वत स्थिति का खण्डन करते हुए आचार्य कमलशील ने कहा है कि यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न होगी तो फिर वह शाश्वत रूप वाली होगी। किन्तु "सर्वे धर्माः निरात्मानः" इत्यादि वाक्यों से आत्मा का निषेध किया जाता है। और यदि यह कहा जाएगा कि रूपादि स्कन्ध समूह ही आत्मा है तो फिर आत्मा की एकता सिद्ध कर पाना कठिन होगा[1]। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि पंचस्कन्ध अहंकार से उद्भूत हैं और अहंकार अनृतभूत हैं। और तब अहंकार के विनष्ट होने से स्कन्धों का ही अस्तित्व नहीं होगा। इसलिए अहंकार से उत्पन्न स्कन्धों का जब तक ग्रहण होता है तभी तक कर्मफल की प्रवृत्ति दिखाई देती है[2]।

कमलशील की ही तरह आचार्य का भी तर्क है और वह यह है कि यदि आत्मा स्कन्ध रूप है तो वह उदय-व्ययभाव वाली होगी। और उदय-व्ययभाववाली होने से वह विनाशभावी प्राप्त होगी[3]।

---

१. त० सं० पं० (१) , पृ० १५९

२. अहंकारोद्भवाः स्कन्धाः सोऽहंकारोऽनृतोधृतः।
बीजं स्यानृतं तस्य प्ररोहः सत्यतः कुतः ।।
स्कन्धानसत्यान् दृष्टवैवमहंकार प्रहीयते ।
अहंकार प्रहाणाच्च न पुनः स्कन्धसम्भवः ।।
स्कन्धग्राहो यावदस्ति तावदेवाहमित्यपि।
अहंकारे सति पुनः कर्म जन्म ततः पुनः ।।　　　　र०, पृ० २९८

३. तत्र यदि स्कन्धा आत्मेति परिकल्प्येत, तदा उदयव्ययभाग् उत्पादी च विनाशी च आत्मा प्राप्नोति।　　　　म० प्र० , पृ० १४५

इस प्रकार से स्कन्धों में और स्कन्धरूप पुद्गल में आत्मा का निषेध करने के साथ-साथ माध्यमिक आचार्य यह कहते हैं कि जैसे स्कन्ध समूह में पुद्गल का व्यवहार नाम मात्र के लिए होता है उसी तरह से धर्म मात्र में आत्म पद का व्यवहार नाम मात्र के लिए होता है। क्योंकि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का आख्यान करना सम्भव नहीं प्रतीत होता है[१]।

आचार्य यह कहते हैं कि भगवान् ने दो प्रकार के सत्य का उपदेश किया है। एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्। परमार्थ सत् का अवलोकन करने से यह अवगत होता है कि इसमें दृश्य नहीं है, द्रष्टा नहीं है, दर्शन नहीं है। अभिधेय-अभिधेयक नहीं है और जो भी व्यवहार होता है वह सभी मृषाधर्मा है। स्कन्ध, आत्मा और लोक व्यवहार सभी परमार्थ में यथार्थ नहीं हैं। इसीलिए परमार्थ सत् निर्विकल्पक है[२]।

---

१. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।। म० शा०, पृ० २

२. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः।।

x x x x

अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपन्चैरप्रपन्चितम्।
निर्विकल्पकमनानार्थ एतत्तत्त्वस्य लक्षणम्।। म० शा०, पृ० २१५

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपनी प्रसन्नपदा व्याख्या में आत्मवाद पर विचार किया है और आत्मा की नित्यता का खण्डन किया है। वे कहते हैं कि माध्यमिक प्रतीत्य समुत्पादवादी हैं। वे हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके जगत् का उत्पाद मानते हैं। इसीलिए वे इस लोक को और परलोक को निःस्वभावी कहते हैं। माध्यमिक संवृत्तिसत्य की स्वीकृति इसलिए करते हैं क्योंकि वे यह कहते हैं कि धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध हैं इसलिए इनकी देशना के अभाव से इनका उपदेश नहीं हो सकता और इसमें सामान्य जन का प्रवेश भी नहीं होगा। इसलिए भगवान् ने "सर्वं तथ्यम्" का उपदेश किया। यह उपदेश उन विनेय जनों की दृष्टि से है जिन्होंने स्कन्ध धातु और आयतन आदि की सत्य कल्पना की।

इस प्रकार जब विनेय जन की सर्वज्ञ बुद्धि निश्चित हो गई तब भगवान् ने "न तथ्यम्" इस सत्य का उपदेश किया। भगवान् ने ऐसा उपदेश करते हुए कहा कि तथ्य वह है कि जिसका अन्यथा भाव नहीं होता किन्तु संस्कारों का अन्यथा भाव है इसलिए वे प्रतिक्षण विनाशी हैं। पुनः भगवान् ने "तथ्यम् अतथ्यम्" का उपदेश किया क्योंकि यही यथार्थ उपदेश है और यही तत्त्व की परिभाषा का यथार्थ स्वरूप है[1]।

---

१. तदेव भवगवति उत्पन्नसर्वज्ञबुद्धि विनेयजनस्य उत्तरकालं तदेव सर्वं न वा तथ्यमित्युपदेशितम्। तत्र तथ्यं नाम यस्य अन्यथात्वं नास्ति। विद्यते च प्रतिक्षणविनाशित्वात् संस्काराणाम यथाभावः, तस्मादन्यथाभावसद्भावान्न वातथ्यम्। वा शब्दः चकारार्थो देशनासमुच्चये द्रष्टव्यः। सर्वं तथ्यं न वा तथ्यमिति।

प्र० प०, पृ० १५८

शङ्कर की आत्मवादी धारणाः-

आचार्य शङ्कर जब आत्मा की सिद्धि करते हैं तो वे यह कहते हैं कि आत्मा की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ऐसा इसलिए है क्योंकि आत्मा स्वयम् ही स्वतः प्रमाण से प्रभावित है। यदि आत्म सत्ता का अनुभव सभी को न होता तो ''मैं हूँ'',''मैं नहीं हूँ'' ऐसा अनुभव सभी को नहीं होता। यथार्थ में तो ''मैं हूँ'' यही अनुभव सभी को होता है। ''मैं नहीं हूँ'' ऐसा अनुभव किसी को भी नहीं होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि ''मैं'' पद से देहादि के अतिरिक्त जो स्वयम् को जानता है वही विवेकी है और सही अर्थों में आत्मा का अनुभव करता है[1]।

इस रूप में आचार्य आत्मा की सिद्धि बिना किसी प्रमाण के करते हैं और आत्म पद के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से यदि आत्म पद के लिए प्रयुक्त स्थलों को देखा जाए तो यह अवगत होता है कि जहाँ आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ पर इसके लिए नित्य, शुचि, बोध वाला, मुक्तस्वरूप वाला कहा गया है। साथ ही यह कहा गया है कि वेदान्त विद्वानों का यह अनुभव है कि चैतन्य रूप आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावी है और इसका स्वरूप सत्स्वभावी है[2]।

---

१. सर्वस्यात्मववाच्य ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो हयात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मि। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म।

ब्र० सू० शां० भा०, पृ० ११

२. अतस्तद्भासकः नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्स्वभाव प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्त विद्वदनुभवः।।

वे० सा०, पृ० ११९

कठोपनिषद् में यह कहा गया है कि यह आत्मा न जन्म लेती है और न इसका मरण होता है। न कहीं से इसका उद्भव होता है। यह अज, नित्य और शाश्वत है। तब आचार्य शङ्कर अपने भाष्य में विस्तार से यह लिखते हैं कि आत्मा न किसी से और न कहीं से उत्पन्न होती है और न ही स्वयम् से अर्थान्तर रूप में होती है। यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत है। यह न कभी क्षीण होती है और न पुरानी होती है[1]।

इसी रूप में यह भी कहा गया है कि जो कोई आत्मा को वर्तमान, भूत, भविष्यत्कालिक जानकर यह जानता है कि यह त्रिकाल का शासक है तो वह कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता और अभय की स्थिति में रहता है। जब तक वह आत्मा को अनित्य मानता है तब तक वह उसकी रक्षा करना चाहता है किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञात होता है कि आत्मा अज, अद्वैत और अजन्मा है वैसे ही वह यह जान लेता है कि कौन किसकी रक्षा करता है और कौन रक्षणीय है तथा कौन रक्षणीय नहीं है[2]।

---

१. स्वस्माच्चात्मनो न वभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतो यमात्माजो नित्यः शाश्वतोपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सपक्षीयते, अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एव। यो ह्यवयवोवयवद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते त इदानीं नवो यथा कुम्भादिः। तद्विपरीतस्तत्वात्मा पुराणो बृद्धि विवर्जितः इत्यर्थ। एत एवमतो न हन्यते। न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तस्थोप्याकाश वदेव। क० शां० भा०,पृ० ८१

२. यदा तु नित्यमर्द्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपयितुमिच्छेत्। एतद्वैतदिति पूर्ववत्। वही०, पृ० १००

एक स्थान पर आचार्य ईश्वर और आत्मा पद का प्रयोग साथ-साथ करते हैं और यह निरूपित करते हैं कि सर्वगत परमेश्वर एक है क्योंकि वह सर्वभूत मात्र का अन्तरात्मा है। यह अचिन्त्य, शक्ति-सम्पन्न, नित्य एकरस, विशुद्ध विज्ञान स्वरूप अपने को नाम रूपादि उपाधिभेद से सत्ता को बहुत रूप में व्यक्त कर लेता है। इसी तरह से जब उपनिषद् मूलरूप से आत्मा को सर्वकारी, सर्वगन्धा, सर्वकामा, सर्वरसः, सर्वव्यापक कहती है तो आचार्य शङ्कर आत्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि इस स्वरूप वाले ईश्वर का ध्यान करना चाहिए[1]।

एक अन्य स्थान पर भी आचार्य शङ्कर ने आत्मा के जिस रूप का निरूपण किया है उसके अनुसार आत्मा आप्नुवन के कारण आत्मा है। सर्व शक्तिवान् तथा संसार के सभी धर्मों से विवर्जित है। यह आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभावी है। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् अव्याकृत था बाद में अनेक नाम रूपवाला व्याकृत हो गया[2]।

---

१. छा० उ०, शां० भा०, पृ० ३११

२. आत्मा आप्नोतेस्ततो वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादि सर्वसंसार धर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभावोऽजोऽमरोऽमृतो मयो द्वयो वै।............प्रागुत्पत्तेः अव्याकृत नामरूपभेदमात्मभूतमात्मैवशब्द प्रत्ययगोचरं जगदिदानीं व्याकृतनामरूपभेद त्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेषः।

ऐ० उ०, शां० भा०, पृ० १७

इस रूप में आचार्य शङ्कर ने आत्म स्वरूप का जो विश्लेषण किया है उसके अनुसार आत्मा सर्वव्यापक होते हुए भी एक है, अज, अद्वैत और विकार रहित है। इसमें न कोई परिवर्तन होता है और न किसी भी परिवर्तन की अपेक्षा होती है। आत्मा को न देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है और न इसे मारा जा सकता है, न जलाया जा सकता है। यह सर्वदा एक रस स्वरूप वाला है और सदा सर्वत्र ही व्याप्त, एक है।

साम्य-वैषम्यः-

इस दृष्टि से यदि देखें तो आचार्य शङ्कर और आचार्य नागार्जुन की आत्मवादी दृष्टि में बहुत बड़ा भेद है। आचार्य नागार्जुन यद्यपि तत्त्व का लक्षण निर्विकल्पक, शान्त, अपर प्रत्यय वाला कहते हैं और उसे चतुष्कोटिक विनिर्मुक्त भी सिद्ध करते हैं तथापि वे आत्मा को नित्य, एक, अद्वैत और अजर के रूप में नहीं मानते। वे इतना तर्क अवश्य आचार्य शङ्कर से मिला-जुला देते हैं कि वह चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है। आचार्य शङ्कर आत्मा के निरूपण में वाणी और ज्ञान को छोटा अवश्य पाते हैं किन्तु वे फिर भी ऐसी आत्मा की प्रतिष्ठा में अपने भाष्य प्रस्तुत करते हैं जो आत्मा अजर, अमर, अज, अद्वैत, एक, अजन्मा, अविपरिणामी है तथा जिसे न मारा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न सुखाया जा सकता है और न ही जल में डुबोया जा सकता है। वह निर्लिप्त अदभ्र आकाशवत् है।

आचार्य नागार्जुन की निर्वाण-दृष्टि:-

निर्वाण के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह द्विविध हो सकता है- एक सोपधि विशेष और दूसरा निरुपधि विशेष। सोपधि विशेष निर्वाण में अविद्या आदि रागादि क्लेशों का निःशेष प्रहाण होता है क्योंकि आत्म-स्नेह जिसमें अहित होता है, वह उपधि है। इस उपधि शब्द से पंच स्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अभिप्रेत हैं। यही आत्म-प्रज्ञप्ति के निमित्त हैं। इसलिए उपधिशेष के साथ जो निर्वाण है वह सोपधिशेष निर्वाण है। यह स्कन्ध मात्र हैं जो सत्काय दृष्टि आदि क्लेशों से रहित हैं। दूसरे प्रकार के निर्वाण को जिसे निरुपधिशेष कहा गया है। इसलिए निरुपधिशेष निर्वाण कहते हैं क्योंकि इसमें स्कन्ध भी नहीं होते हैं।

इस सिद्धान्त में प्रश्न यह कहा जाता है कि यह द्विविध निर्वाण शून्यवाद में सम्भव नहीं है क्योंकि शून्यवाद में जब किसी का उत्पाद-व्यय नहीं होता है तब किसका निरोध होने से किसका निर्वाण होगा। इसलिए निर्वाण का विवेचन करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले स्वभावी रूप स्कन्धों का अस्तित्व होवे[१]।

---

१. यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।
प्रहाणाद् वा निरोधाद् कस्य निर्वाणमिष्यते।। म० शा०, पृ० २२८

x x x x x x

इह हि भवगता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितम् सोपधिविशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निःशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सोपधिशेषं निर्वाणमिष्यते।.............. उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पन्चोपादानस्कन्धाः उच्यन्ते।......यत्र तु निर्वाणे स्कन्धपन्चकमपि नास्ति, तन्निरुपाधिशेषं निर्वाणम्।। प्र० प०, पृ० २२८

इसके समाधान में आचार्य शङ्कर यह कहते हैं कि जब यह माना जाता है कि पंच स्कन्ध सस्वभावी हैं तब उनका उत्पाद–निरोध नहीं होगा क्योंकि जो सस्वभावी है वह भी निरोध को प्राप्त नहीं होता और जब पंच स्कन्ध निरुद्ध नहीं होगें तब निर्वाण की कल्पना नहीं की जा सकती। इस रूप में माध्यमिक आचार्य यह कहते हैं कि जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता, जो श्रावण्य फल के समान नहीं होता, जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता, जो अशून्य पदार्थों के समान नित्य नहीं होता और जो स्वभावतः अनिरुद्ध तथा अनुत्पन्न है; वह निर्वाण का लक्षण है[1]।

आचार्य चन्द्रकीर्ति इसके लिए तर्क देते हैं कि निरुपधिशेष निर्वाण धातु में स्कन्धों का सर्वथा अस्तित्व नहीं है, यह सभी मध्यममार्गियों को अभिप्रेत है। वे कहते हैं कि जैसे रज्जु में सर्प उपलब्ध है किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है उसी तरह से निर्वाण में समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकार की अवस्था में रज्जु थी किन्तु सर्प नहीं और प्रकाश होने पर भी सर्प का सर्वथा अभाव ही रहा, उसी तरह से पूर्व में स्कन्धादि नहीं हैं और पश्चात् में भी स्कन्ध नहीं हैं। इस प्रकार निर्वाण में न किसी का प्रहाण सम्भव है और न निरोध।

---

१. अप्रहीणमसम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नं एतन्निर्वाणमुच्यते।। मा० का०,पृ० २८

x x x x x

यद्धि नैव प्रहीयते रागादिवत्, नापि प्राप्यते श्रावण्यफलवत्।
नाप्युच्छिद्यते स्कन्धादिवत्, यच्चापि न नित्यंशून्यवत्, तत् स्वभावतो निरुद्धमनुत्पन्नं च निर्वाणमुक्तम्। प्र० प०, पृ० २२९

आचार्य निर्वाण की सिद्धि के लिए और तर्क देते हैं तथा कहते हैं कि निर्वाण भाव नहीं है। यदि वह भाव होगा तो संस्कृत होगा। तब वह असंस्कृत धर्म नहीं होगा क्योंकि असंस्कृत किसी देश या काल के सिद्धान्त में बंधा हुआ नहीं होता। इसी प्रकार यदि निर्वाण को भार माना जाएगा तो उसे किन्हीं हेतु प्रत्ययों से जनित मानना होगा, जबकि निर्वाण हेतु-प्रत्यय जन्य नहीं है। अब यदि यह कहा जाए कि निर्वाण अभाव स्वरूप है तब भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि अभाव भी बिना हेतु प्रत्ययों का उपादान किये नहीं होगा। अभाव रूपता के लिए भी किसी न किसी प्रकार की भावरूपता की आवश्यकता होगी और इसलिए निर्वाण के हेतु में भाव रूपता न होने के कारण इसे अभाव रूप भी नहीं कह सकेगें। बन्ध्या पुत्रादि किसी का उपादान करके नहीं हैं इसलिए वह अभाव भी नहीं है क्योंकि भाव का अन्यथा भाव अभाव है। बन्ध्यापुत्रादि तुच्छ हैं और इनका न भावरूप सिद्ध है तथा न ही इनका अभाव रूप ही सिद्ध है[1]।

---

१. भावश्च यदि निर्वाणं निर्वाणं संस्कृतं भवेत्।
नासंस्कृतो हि विद्यते भाव: क्वचन कश्चन।। म० अ०, पृ०२८

X X X X X X

यदि निर्वाणं भाव: स्यात् तदातन्निर्वाणं संस्कृतं भवेत्, विज्ञानादिवत् भावत्वात्। यस्तु असंस्कृत:, नासौ भाव: तद्यथा खरविषाणवदिति व्यतिरेकमुपदिश्यन्नाह-नासंस्कृतो हि विद्यते भाव: क्वचन कश्चन। प्र० प०, पृ० २३१

आचार्य शङ्कर का मुक्ति-सिद्धान्तः-

वैदिक परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को स्वीकार किया गया है। इनमें भी मोक्ष परम पुरुषार्थ है- ऐसा प्रसिद्ध है[1]। अपने सिद्धान्त के समर्थन में आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् के दो उदाहरण दिए हैं। एक उदाहरण में यह कहा गया है कि "वह आत्मा पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेती"। इस श्रुति से आत्म मोक्ष की नित्यता प्रमाणित होती है[2]। इसी प्रकार से मोक्ष से इतर धर्म, अर्थ और काम की अनित्यता प्रमाणित है।

इस विषय में यह कहा गया है कि जिस प्रकार इस लोक में कृषि आदि कर्म से सम्पादन किया हुआ धान्यादि लोक में क्षीण होता हुआ दिखाई देता है, उसी तरह से परलोक में पुण्यरूप अदृष्ट से सम्पादित किया हुआ स्वर्ग लोकादि भी क्षय को प्राप्त हो जाता है[3]। इससे यह तर्क दिया जाता है कि धर्म, अर्थ, काम तो अपना-अपना फल देकर अवसान को प्राप्त हो जाता है किन्तु मोक्ष ही एक ऐसा फल है जिसका कभी अवसान नहीं होता और न ही इसकी अनित्यता प्रतिपादित की जा सकती है।

---

१. इह खुल धर्मार्थकाम मोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम पुरुषार्थ:। वे० प०,पृ०६

२. तद्वैतद् ब्रह्माप्रजापतय:.............ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तत: न च पुनरावर्तति।
छा० उ०, पृ० ९४३

३. तद्यथेह कर्मजितो लोक: क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोक: क्षीयते। वही०, पृ० ८१९

मुक्ति को ज्ञान से साध्य कहा गया है। इसी को जानकर जीव मृत्यु को पार कर जाता है। यह कथन भी इस वाक्य से समर्थित है जिसमें यह कहा गया है कि उसे जानकर मनुष्य मृत्यु से पार जाता है और कोई दूसरा मार्ग इससे भिन्न नहीं है[1]।

आत्मा किस प्रकार बन्धन में बंधती है इसके सम्बन्ध में वेदान्तसार आवरण और विक्षेप नामक अविद्या की दो शक्तियाँ स्वीकार करता है और यह प्रतिपादित करता है कि जिस प्रकार लघु मेघ का खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित, अजन्मा, असांसारिक आत्मा को आवृत कर देता है। यही शक्ति आवरण कर देती है। यही शक्ति आवरण शक्ति कही जाती है[2]।

इस क्रम में यह कहा गया है कि जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है उसी प्रकार साधारण दृष्टि वाला व्यक्ति उन सभी को बंधा हुआ मानता है, जो जन्म-मरण के अनवरत क्रम में फसे हुए हैं।

---

१. वे० प०,पृ० ३८४

x x x x x

तमेव विदित्वादि मृत्युमेति नान्यापन्था विद्यतेयनाय। श्वे०, पृ० १२५

२. आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकशक्त्या यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नामप्यात्मानमपरिच्छिन्न मसंसाणिमवलोकयितृबुद्धि -पिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। वे० सा०, पृ० ८७

आवरण अपनी विशेष आवरणात्मक शक्ति के द्वारा आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व, सुख, दु:ख, मोहादि का अवभास कराती है। जिस प्रकार स्व अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व का भाव प्रतिष्ठित होता है।

एक स्थान पर आचार्य शङ्कर ने यह निरूपित किया है कि यह शरीर मैं हूँ, मैं दुखी हूँ इत्यादि प्रकार के अनुभव अविद्या जनित हैं। इसके विपरीत ब्रह्मात्मभाव के अनुभव की उपपत्ति से "मैं असंसारी ब्रह्म हूँ", इस प्रकार की अनुभूति से मर्त्य अमर हो जाता है[१]।

ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में आचार्य शङ्कर ने मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म की अभिन्नता को कहा है। वे कहते हैं कि वह उत्तम पुरुष है और ब्रह्मरूपता की उक्ति से वह ब्रह्म स्वरूप से अभिन्न है क्योंकि अविद्या से ग्रसित जीव जब तक अविद्या से मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह अपने आपको ब्रह्म से भिन्न मानता है किन्तु जैसे ही वह अविद्या मुक्त हो जाता है वैसे ही स्वयम् को ब्रह्मस्वरूप अनुभव करता है, यही मुक्ति है[२]।

---

१. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्यबुद्धेरिव जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढ़बन्धन रूपा अविद्या प्रत्यया इत्यर्थ:। ब्रह्मवैवाहमस्मि असंसारीति............मूलतो विनश्यन्ति।
क० उ० शां० भा०, पृ० १५२-१५३

२. नित्य: सर्वज्ञ: सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।
वही, पृ० ४२

आचार्य नागार्जुन का शून्यवादः-

जब माध्यमिक आचार्य शून्यता का प्रतिपादन करते हैं तब यह प्रश्न उठाया जाता है कि वाह्य और अध्यात्म सभी शून्य होने पर पदार्थ के उदय-व्यय का स्वरूप कैसे सिद्ध होगा और इस प्रकार की शून्यता से चार आर्यसत्यों का भी अभाव होगा। किन्तु दुःख की सत्यता तो आर्यों को ही ज्ञात होती है। कहा भी गया है कि जब ऊर्णा को करतल पर रखते हैं तो वेदना नहीं होती है किन्तु जब उसे अग्नि-गत करते हैं तो वेदना नेत्रों में अनुभव होती है। इस प्रकार जब यह वेदना आर्य को अनुभूत होगी तो उसका उदय-व्यय मानना पड़ेगा किन्तु शून्य मानने से सभी शून्य होगा और आर्य सत्य भी अपलाप हो जाएँगे। इस स्थिति में जब दुःख नहीं होगा तो उसका समुदय भी नहीं होगा। अतः समुदय सत्य भी नहीं होगा। जो दुःख का हेतु है, वह समुदय है। वह समुदय तृष्णा, क्लेश है। दुःख का पुनः न होना निरोध सत्य है किन्तु जब दुःख और समुदय नहीं है तो निरोध भी कहाँ से होगा और दुःख निरोध न होने पर मार्ग सत्य भी नहीं होगा। जब यह सब परम्परा उच्छिन्न मान ली जाएगी तो फिर भला बौद्ध परम्परा ही कहाँ रह जाएगी ?

आचार्य इस सम्बन्ध में यह निराकरण देते हैं कि यह सभी कपोल कल्पना है। शून्यता से अभाव का अभिप्राय ग्रहण करते हैं, वे ही इस प्रकार की निराधार कल्पना करते हैं। शून्यता के उपदेश का प्रयोजन अशेष प्रपंच का उपशय है। इसमें अभाव का अभिप्राय किंचित् मात्र भी नहीं है। इसलिए प्रतीत्य समुत्पाद का जो अर्थ है वही शून्यता का अर्थ है। अभाव शब्द का जो अर्थ है वह शून्यता का अर्थ नहीं है[1]।

आचार्य यह कहते हैं कि बुद्ध की देशना दो सत्यों का आश्रय लेकर चलती है। एक लोक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। पदार्थ तत्त्व का समन्ततः अवच्छादन करने से अथवा अन्योन्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होने से संवृत्ति व्युत्पन्न है। संवृत्ति लोक व्यवहार को भी कहा जाता है। ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि लोक व्यवहार ज्ञान-ज्ञेय का संकेत है।

आचार्य लोक संवृत्ति का जब अर्थ करते हैं तो वे यह निरूपित करते हैं कि यथार्थ में मोह संवृत्ति है क्योंकि वह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को आवृत करता है। संवृत्ति एक ओर वस्तु के स्वभाव-दर्शन के लिए आवरण खड़ा करती है दूसरी ओर यह पदार्थों में असत् स्वरूप का आरोपण करती है।

---

१. एवं प्रतीत्य समुत्पादशब्दस्य योऽर्थः, स एव शून्यताशब्दस्यार्थः, न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यता शब्दस्यार्थः। अभाव शब्दार्थ च शून्यतार्थमित्यध्यारोप भवानस्मानुपालभते।
प्र० प०, पृ० २१५

संवृत्ति निःस्वभाव एवं सत्याभासित पदार्थों को स्वभाव से अथवा सत्य स्वरूप से प्रतिभासित करती है। किन्तु यह सभी मिथ्या है। क्योंकि लोक दृष्टि से इसकी सत्यता है, इसलिए यह लोक की संवृत्ति कही जाती है[1]।

यह प्रतीत्य समुत्पन्न है, इसलिए कृत्रिम है। जो अज्ञ हैं वे प्रतीत्यसमुत्पन्न को कृत्रिम नहीं मानते। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्व के लिए यह सब संवृत्ति मात्र है, सत्य नहीं है। जिस वस्तु को यथार्थ मानकर बाल जन उसकी यथार्थता से ठगा जाता है, वह संवृत्ति सत्य है और अज्ञजन उसकी सत्यता मानकर उसमें भ्रमित हो जाता है। इस संवृत्ति सत्य की जो स्वभाव-शून्यता है, वही परमार्थ है। बुद्धों का स्वभाव परमार्थ है क्योंकि उससे किसी का प्रमोष नहीं होता है, परमार्थ सत्य है। यह परमार्थ सत्य प्रत्यात्म बोध है। संवृत्ति सत्य प्रमोषक है इसलिए वह परमार्थ सत्य नहीं है[2]।

---

१. अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृत्तिरित्युच्यते। परस्परसंभवनं वा संवृत्तिस्योन्यसमाश्रयणेत्यर्थः। अथवा संवृत्तिः संकेतो लोक व्यवहार इत्यर्थः। स चाभिधानाभिधेयज्ञानज्ञेयादिलक्षणः। लोके संवृत्तिर्लोक संवृत्तिः। प्र० प०, पृ० २१५

२. वही, पृ० २१६

परमार्थ सत् अवाच्य है। यह ज्ञान का विषय नहीं है। यह स्व संवेद्य है। इसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। परमार्थ सत् के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जैसे तिमिर रोग से आक्रांत व्यक्ति अपने हाथ में ग्रहण किए गए धान्यादि पुंज को केशरूप में देखता है और उसे ही सत्य समझता है किन्तु उसे ही शुद्ध दृष्टि वाला जिस रूप में देखता है, वही तत्त्व होता है। वैसे ही अविद्या तिमिर से उपहत अतत्त्व दृष्टा स्कन्ध, धातु, आयतन का जो स्वरूप उपलब्ध करता है वह अविद्या वासना रहित बुद्धि जिस दृष्टि से देखती है, वही परमार्थ सत् है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि इस परमार्थ सत् का उपदेश नहीं किया जा सकता क्योंकि जिसके द्वारा देशित होना है, जिसके लिए देशना करनी है, जिसकी देशना करनी है ये सभी परमार्थतः अनुपपन्न हैं। इसलिए अनुपपन्न धर्मों से अनुपपन्न धर्मों को बताया जा सकता है। तत्त्व में भाव-अभाव, स्वभाव-परभाव, सत्य-असत्य, शाश्वत-उच्छेद, नित्य-अनित्य, सुख-दुःख, शुचि-अशुचि, आत्मा-अनात्मा, शून्य-अशून्य, लक्षण-अलक्षण, एकल-अनेकत्व, उत्पाद-निरोधादि नहीं होते। तत्त्व ज्ञान में आर्य ही प्रमाण हैं। अनार्य और बाल तत्त्व ज्ञान में किसी भी प्रकार से प्रमाण नहीं हैं[1]।

---

१. यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति।
दुःख समुदयं चैव निरोधं मार्गमैव च।। म० अ०, पृ० २७

आचार्य शङ्कर की शून्य दृष्टि :-

आचार्य शङ्कर मूल रूप से उपनिषद् के स्थलों को लेकर अपना व्याख्यान करते हैं और इस रूप में वे उसी के अनुरूप अपना मत प्रकट करते हैं। उपनिषद् की परम्परा जब ब्रह्म अथवा आत्मा का स्वरूप विवेचित करती है तब वह कहती है कि ब्रह्म न अन्तः प्रज्ञ है, न बहिः प्रज्ञ है, और न उभयप्रज्ञ, यह प्रज्ञानधन नहीं है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य है। वह आत्म प्रत्ययसार है। इसमें समस्त प्रपंच का उपशम हो जाता है। वह शान्त, शिव और अद्वैत है[1]। एक अन्य उपनिषद् में यह कहा गया है कि वह ब्रह्म अस्थूल अणु, अहृस्व, अदीर्घ, अलोहित, अच्छोभ, अगम, असंग, अरस, अगंध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अप्राण, अमुख, अनन्तर, अवाह्य, अभुक्त तथा अभोग्य है[2]। अन्य और स्थान पर भी इसी प्रकार का विवेचन किया गया है तथा यह कहा गया है कि वह ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगंध, अनादि, अनन्त और ध्रुव है[3]।

---

१. एष सर्वेश्वरः सर्वज्ञः। एषोन्र्याम्येष यानिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौहिभूतानाम्।................
शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स ज्ञेयः। माण्डूक्य, ६ । ७

२. अस्थूलं अनणुं, अहृस्वं, अदीर्घं, अलोहितं, अच्छतापं, अतमो, असंग, अरसं.........न तदश्नाति कश्चन। बृह० ३/८/८

३. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथारसं नित्यंगन्धवच्च। क० १/३/१५

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म के दो रूपों को जानने के लिए दो लक्षणों में विवेचित किया है। ये दोनों लक्षण हैं ब्रह्म के स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। यदि किसी वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझना है तो उसके अनवच्छिन्न एवं अविभाज्य रूप को घोषित करने वाले प्रयोग उस वस्तु के स्वरूप-विश्लेषण के संकेत हैं। इसके विपरीत जो आगन्तुक गुणों को संसूचित करते हैं, वे तटस्थ लक्षण हैं। इस प्रकार उभयविध लक्षण स्वीकार करके आचार्य शङ्कर ने उन समस्त श्रुतिवाक्यों का समाधान दिया है जो ब्रह्म की अनन्य स्थिति का प्रतिपादन नहीं कर पाते थे। उस रूप में आचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म अखण्ड सत्ता वाला है। मन, वाणी आदि इन्द्रियों से यह तत्त्व देश, काल आदि मर्यादाओं से अपरिच्छिन्न है। अपने मूल रूप में कभी भी व्यभिचारि न होने के कारण सत् तथा चैतन्यात्मक है। उसी के आभास से सभी कुछ आभासित होता है[1]।

माण्डूक्यकारिका में आचार्य गौड़पाद ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या जाग्रत अवस्था की अनुभूति सत् है? यदि जाग्रत अवस्था की अनुभूति सत् होती तो त्रिकाल में इसे अविरोध्य होना चाहिए था। अर्थात् वर्तमान, भूत और भविष्य में कभी भी इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए था।

---

१. अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ् मनसगोचरम्। वे० सा० १/१

क्योंकि जाग्रत अवस्था की अनुभूति भी अविरोध्य नहीं है, इसलिए केवल तुरीयावस्था की अनुभूति को ही सत् अनुभूति कहा जाना चाहिए[1]।

इस रूप में विश्लेषित तत्त्व का जब शून्यात्मक स्वरूप निर्धारित किया जाता है तब आचार्य के द्वारा यह कहा जाता है कि माध्यमिकों के कथनानुसार शून्यता का कोई अभिप्राय नहीं है क्योंकि ऐसा शून्य या तो 'ख' पुष्पवत् होगा अथवा बन्ध्या के पुत्र की तरह होगा। यदि बन्ध्या के पुत्र की तरह से शून्य की कल्पना की जाएगी तो फिर वह ब्रह्म अधिष्ठान नहीं होगा। यदि आत्मा शून्य से भिन्न नहीं है तो फिर यह कहना कि "यह शून्य है" सब निरर्थक हो जाएगा। इसलिए शून्य के साक्षी के रूप में आत्मा का अस्ति रूप में होना आवश्यक है[2]।

आचार्य गौड़पाद यह कहते हैं कि असत् से किसी तत्त्व की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जो भी पदार्थ रूप में दृष्टिगत होता है वह सभी माया से जनितऔर माया रूप में ही दिखाई देता है। वस्तुतः बन्ध्यापुत्र कथन मात्र में ही है, यथार्थ मात्र में इसकी कोई स्थिति नहीं होती है [3]।

---

१. मा० का० १/१५

२. भा० द०, पृ० ३७२-३७३

३. असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन माययावापि जायते।। मा० का० ४/४८, ४/२८

ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप प्रतिपादन में जब बौद्ध यह कहते हैं कि न निरोध है न अनिरोध है, न भाव है और न अभाव है, न अजात है न अनिरुद्ध तब आचार्य गौड़पाद भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति को शब्द देते हैं। आचार्य कहते हैं कि जो भूत हैं वे उत्पन्न नहीं होते, जो अभूत हैं वे उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जो अद्वय पर अपना मत देते हैं, वे अजाति का ही ख्यापन करते हैं[1]।

माध्यमिक आचार्य यह कहते हैं कि वह तत्त्व अनिरोध है, अनुत्पाद है, अनुच्छेद है, अशाश्वत है, अनेकार्थ है, अनानार्थ है, अनागम है, अनिर्गम है। न वह सत् है न असत् है, न सदसत् है न उभयात्मक है। वह इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त है और यह परम तत्त्व है। आचार्य भी इसी तरह से यह कहते हैं कि यह तत्त्व निर्विकल्पक है, प्रपंचों का उपशम है, अद्वय है। है, नहीं है, है और नहीं है, है और नहीं है के चतुर्विध प्रकारों से भिन्न है[2]।

---

१. भूतं न जायते किन्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया हयेवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।। मा० का०४/२२, ४/४

२. निर्विकल्पो हृययं दृष्ट: प्रपन्चोपशमोऽद्वय: ।
अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति व: पुन: ।।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव वालिश: ।। मा० का० २/३५, ४/८३

वेदान्त दर्शन का यह सुचिन्तित मत है कि अन्तःकरण की वृत्ति नेत्रों से निसृत होकर विषय में प्रविष्ट होती है। तब उससे तदाकार की प्रतीति होती है। जहाँ रज्जु में सर्पभ्रम है वह सत् नहीं है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि बन्ध्यापुत्र की तरह उसकी प्रतीति का बाध नहीं होता। इसलिए ब्रह्म सत्-असत् विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय है।

ब्रह्म सुख स्वरूप है। सुख ही उसकी शून्यता की विशेषता है। सुख का अनुभव सभी को होता है और सभी सुख चाहते हैं इसलिए सुखात्मक शून्य का प्रतिपादन यथार्थ का प्रतिपादन है। किन्तु सुख से अभिप्राय विषय रूप सुख से भी नहीं है। विषयजन्य सुख यथार्थ में सुख न होकर केवल सुखाभास की प्रतीतिमात्र है।

इस लोक में निषिद्ध और विहित, दोनों प्रकार की भोग लिप्साओं में डूबा हुआ और शास्त्र-संस्कारों से स्खलित पुरुष पामर है। शास्त्र के अनुसार विषयों का उपभोग करते हुए जो परलोक अथवा इन्द्रलोक की प्राप्ति के लिए उद्योगशील है, वही विषयी है। जो अपने उत्तम संस्कारों के कारण शास्त्रों का श्रवण और मनन कर नित्य सुख-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति का प्रयत्न करता है तथा उसे पाकर मुक्त हो जाता है, वही मुक्त है और वही ब्रह्म तथा उसकी सुखात्मक शून्यता को जानता है अथवा वह स्वयम् तद्रूप हो जाता है।

समीक्षा तथा निष्कर्षः-

वेद परम्परा से अपने को पृथक् स्थिति दिलाने वाले दर्शनों में बौद्ध दर्शन की अपनी मान्यता है। इस मान्यता का ही कारण है कि भारत के आस्तिक और आत्मवादी दर्शन आपस में चाहे जितना वैमत्य रखते रहे हों वे बौद्ध तर्कों के प्रहार का उत्तर अपने-अपने समय में देते ही रहे हैं। पिछले दो हजार वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेकानेक शास्त्रार्थों और ग्रन्थों के घटित होने के बाद भी बौद्ध मत की आभा को क्षीण नहीं किया जा सका है।

इस परम्परा और क्रम में भी आचार्य शङ्कर ही एक मात्र ऐसे आचार्य कहे जा सकते हैं जिन्होंने अपने तीक्ष्ण तर्कों से बौद्धों को शास्त्रीय स्तर पर और सामाजिक स्तर पर भी परास्त किया। किन्तु इसी के साथ ही साथ ऐसा भी संयोग हुआ कि बौद्धों की ही भाँति परम तत्त्व को शून्य मानने के कारण अनेक दार्शनिक आचार्य शङ्कर को भी प्रच्छन्न शून्यवादी कहने लगे। इसका हेतु यह था कि बौद्धों में माध्यमिकों ने सत्, असत्,सदसत्, सन्नसत् कहकर तत्त्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त और विलक्षण सिद्ध किया। आचार्य शङ्कर ने भी आत्मा की शक्ति माया को कोटित्रय शून्य अर्थात् सत्, असत्, सदसत् तीनों कोटियों से बहिः माना और इसे अनिर्वचनीय कहा। यह दोनों के कथन की साम्यता ही ऐसा प्रतीत करा गई जैसे आचार्य शङ्कर और नागार्जुन में समानता है। यहाँ पर इस अध्ययन क्रम में यह देखा गया है कि इन दोनों ही आचार्यों के तर्कों में निरूपण साम्यता देखी जाती है किन्तु तत्त्व के स्थापन में साम्यता नहीं है। आचार्य नागार्जुन न उस रूप में आत्मा को स्वीकार करते हैं जिस रूप में आचार्य शङ्कर स्वीकार करते हैं और न ही मोक्ष का वह स्वरूप बताते हैं जैसा आचार्य शङ्कर ने निरूपित किया है।
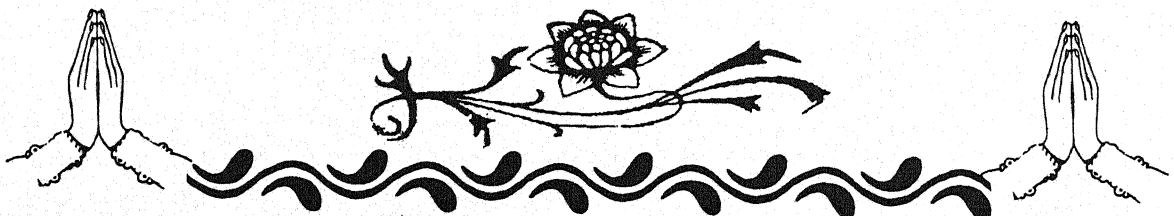
उद्धृत-ग्रन्थ-सूची

१. अभिधर्मकोश — ओ.पी. प्रधान, जायसवाल रिसर्च इन्सटीट्यूट,पटना-१६६७

२. अभिधर्मकोश — आचार्य वसुबन्धु पूसेकृत अनुवाद सहित

३. अभिधर्मकोशभाष्यम् — ओ.पी. प्रधान, जायसवाल रिसर्च इन्सटीट्यूट पटना- १६६७

४. अभिधर्मामृत घोषक — शान्तिभिक्षु शास्त्री, शान्ति निकेतन-१६५३

५. अच्युत (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य भूमिका) — पं० गोपीनाथ कविराज गोयनका निधि, काशी-१६६३

६. अभिधर्मप्रदीप विभाषावृत्ति — पी.एन. जैनी, जायसवाल रिसर्च इन्सटीट्यूट- १६५६

७. आत्मानात्माविवेक — चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी-१६७३

८. आद्य शङ्कराचार्य दर्शन की सामाजिकता — डॉ. यतीन्द्र तिवारी विनीत प्रकाशन, गाँधीनगर कानपुर- १६८६

६. ईशादिद्वादशोपनिषद् — स्वामी विद्यानन्द गिरि, कैलाश विद्या प्रकाशन-१६७६

१०. ईशादिद्वादशोपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित(संकलित) — मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

११. उपनिषदों का तत्त्व ज्ञान — डॉ. जयदेव विद्यालंकार, प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान-१६८०

१२. ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड) — संस्कृति संस्थान, बरेली-१६७४

१३. ऋजुप्रकाशिका — मैट्रोपोलिटिन प्रेस, कलकत्ता-१६३३
१४. ऐतरेय उपनिषद् शाङ्करभाष्य — गीताप्रेस, गोरखपुर
१५. ऐतरेय भाष्य(संकलित) ईशादिद्वादशोपनिषद् शाङ्करभाष्य सहित — मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
१६. कल्पतरूपरिमल — अप्ययदीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई-१६३८
१७. कठोपनिषद् (शाङ्करभाष्य) — सत्यानंद सरस्वती, गोविन्दमठ, वाराणसी-१६७४
१८. काशी की पाण्डित्य परम्परा — पं० बल्देव उपाध्याय, विश्वविद्यालय प्रकाशन-१६८३
१६. खुदद्क निकाय भाग-१ — भि०जे० कश्यप, बिहार राजकीय प्रकाशन
२०. चन्द्रकीर्ति वृत्ति — डॉ. भागचन्द्र जैन, सम्पादित आलोक प्रकाशन, नागपुर
२१. चतुः शतक (चन्द्रकीर्ति वृत्ति सहित) — डॉ. भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर-१६७१
२२. छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्कर भाष्य) — गीता प्रेस, गोरखपुर सं. २०२८
२३. जय मंगला — एच. शर्मा कलकत्ता-१६२६
२४. तत्त्व प्रदीपिका — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई- १६१५
२५. तत्त्व संग्रह (पन्जिकोपेतः) — द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी-१६६८

२६. दीघनिकाय भाग-१ एवं २ — भि.जे. कश्यप, बिहार राजकीय प्रकाशन-१६५८

२७. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन — विद्या प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली- १६७१

२८. त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिः — वा. सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी- १६७२

२६. त्रिस्वभावनिर्देश — वा. सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी- १६७२

३०. नैष्कर्म्यसिद्धिः — श्री सुरेश्वराचार्य, मैसूर वि.वि., मैसूर-१६५५

३१. पंचपादिका — मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज-१६५८

३२. प्रश्नोपनिषद् (शाङ्कर भाष्य) — गीताप्रेस, गोरखपुर-२०३०

३३. प्रसन्नपदा टीका — आचार्य चन्द्रकीर्ति, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी-१६८६

३४. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य — स्वामी हनुमानशास्त्री, चौखम्बा, विद्या भवन-१६८२

३५. ब्रह्मसिद्धि — मद्रास गवर्नमेण्ट कॉलिज, मैनुस्क्रिप्ट सी. न. ४ सन् १६३७

३६. ब्रह्मसूत्र भाष्य — भास्कराचार्य कृत

३७. बृहदारण्यकोपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर

३८. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक — आनन्दाश्रम, पूना

३९. बुद्धिस्ट इण्डिया — तारानाथ पीटरवर्गस् १८६७

४०. बोधचर्यावतार (पंजिका सहितम्) — डॉ. पी.एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा- १९६०

४१. बोधिचर्यावतार(शा०) — शान्तिभिक्षु शास्त्री, बुद्ध विहार, लखनऊ

४२. बौद्धधर्मदर्शन — आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् पटना-१९७१

४३. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास — डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ-१९७६

४४. भामती : एक अध्ययन — डॉ. ईश्वरसिंह, मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक-१९८३

४५. भामती — सरयूप्रसाद उपाध्याय, संस्कृत महाविद्यालय, मीरजापुर-१९६६

४६. भारतीय दर्शन — श्री बल्देव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी- १९६६

४७. भारतीय दर्शन — उमेश मिश्र, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान- १९५७

४८. भारतीय दर्शन — वाचस्पति गैरोला, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१९८३

४९. मध्यमकशास्त्रम् (प्रसन्नपदा व्याख्या) — पी. एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा-१९६०

५०. श्रीमद्भगवद्गीता — गीताप्रेस, गोरखपुर–२०३६

५१. महावग्गपालि — भि.जे. कश्यप, बिहार राजकीय प्रकाशन–१९५६

५२. मध्यमकशास्त्र — आचार्य नरेन्द्र हिन्दी व्याख्या बौद्ध भारती, वाराणसी– १९८९

५३. मज्झिम निकाय — श्री राहुल सांकृत्यायन हिन्दी अनुवाद

५४. मध्यमकावतार — चन्द्रकीर्ति व्याख्या से संकलित

५५. मध्यान्त विभाग शास्त्र — सं. चन्द्रधर शर्मा, जबलपुर विश्व विद्यालय प्रकाशन– १९६३

५६. मज्झिम निकाय — भि. जे. कश्यप, बिहार प्रकाशन– १९५८

५७. माण्डूक्य कारिका — आचार्य गौड़पाद

५८. माण्डूक्योपनिषद् — गीता प्रेस, गोरखपुर

५९. मिलिन्द प्रश्न — संस्कृतच्छाया सहितम्

६०. मिलिन्दपञ्हो — आर. डी. वाडेकर, बाम्बे विश्वविद्यालय– १९४०

६१. मीमांसा दर्शन — डा. प्रेमा अवस्थी, सुरभारती प्रकाशन, कानपुर–१९८९

६२. यजुर्वेद — संस्कृति संस्थान, बरेली–१९७६

६३. रत्नावली — श्री परशुराम शर्मा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा- १९६०

६४. रत्न प्रभा — गोविन्दानन्द, निर्णय सागर प्रेस-१९७९

६५. लंकावतार सूत्र — कियोटो प्रकाशन १९२३

६६. सद्धर्मलंकावतार सूत्र — डा. पी.एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा-१९६३

६७. वार्तिक — प्रथम भाग कलकत्ता संस्करण-१९३३

६८. विभङ्गपालि — भि.जे. कश्पय, राजकीय प्रकाशन मण्डल- १९६०

६९. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (प्रकरणद्वयम्) — डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, वा. सं. वि.वि., १९७२

७०. विशुद्धिमग्गो (तृतीय भाग) — बुद्धघोष, सं. डॉ. रेवतधम्म सं. वि.वि., वाराणसी-१९७२

७१. विष्णु पुराण (प्रथम खण्ड) — संस्कृति संस्थान, बरेली-१९८६

७२. विग्रह व्यावर्त्तनी — पी.एल.वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा

७३. विशुद्धिमग्ग आफ बुद्धघोष — डी. कौसाम्बी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई- १९४०

७४. वेदान्त परिभाषा — डॉ. गजानन शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१९८३

७५. वेदान्तसार — डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, मेरठ-१९८६

७६. वेदान्तदर्शन — पालडायसन हिन्दी अनु. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,लखनऊ-१९७१

७७. वेदान्त दर्शन — व्याख्या-श्री हरिदास गोयनका गीता प्रेस, गोरखपुर-२०५१

७८. वेदान्तकल्पतरू — निर्णय सागर प्रेस-१९३८

७९. वेदान्त परिभाषा — चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१९८३

८०. वेदान्त सिद्धान्त सूक्त मंजरी — गंगाधर सरस्वती

८१. एन इन्ट्रोडक्शन टू शङ्कर थ्योरी आफ नॉलिज — मोतीलाल बनारसीदास -१९७२

८२. शाङ्करभाष्य(आचार्य शङ्कर कृत) — गीता प्रेस, गोरखपुर

८३. संयुक्त निकाय भाग-२ — भि० जे० कश्यप बिहार प्रकाशन-१९५९

८४. सद्धर्मपुण्डरीक — डॉ. राममोहन दास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्

८५. श्वेताश्वतरोपनिषद् — डॉ. तुलसीराम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली - १९७५

८६. श्रीभाष्य — श्री रामानुजाचार्य

८७. स्थिरमतिभाष्य (विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि) — डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, वा. सं. वि. वि. वाराणसी-१९७२

८८. स्फुटार्था अभिधर्मकोश-व्याख्या — लुजैक एण्ड क०, लन्दन-१९४९

८९. सामवेद — संस्कृति संस्थान, बरेली-१९७५

९०. सुमंगलविलासनी भाग-२ — डॉ. नथमल टाटिया एवं डॉ. महेश तिवारी नवनालन्दा महाबिहार - १९७५

९१. हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म भाग-२ — बुदोन, १९३१-३२

९२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-२ — कैम्ब्रिज वि.वि. प्रेस, द्वि० सं०

९३. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-३ — एस.एन. दास गुप्ता, हिन्दी संस्करण

६४.हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक	सतीशचन्द्र विद्याभूषण मोतीलाल बनारसीदास-१६७१
६५.ज्ञान प्रस्थान भाग-१	श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री, विश्वभारती शान्ति निकेतन-१६५५